8355

जैन-सिद्धान्त भास्कर

भाग १७ किरण २

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. XVI No. II

१९२८
अंक २

Edited by
Prof. A. N. Upadhya, M. A., D. Litt.
Prof. G. Khushal Jain. M. A. Sahityacharya.
Sri. Kamata Prasad Jain, M.R.A.S., D.L.
Pt. K. Bhujbali Shastri, Vidyabhushan.
Pt. Nemi Chandra Jain Shastri, Jyotishacharya.

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAIN SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH (Bihar)

Inland Rs. 3. Foreign 4*s.* 8*d.* Single Copy Rs. 1/8

DECEMBER, 1950.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग १७ दिसम्बर १९५० किरण २

सम्पादक

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.

प्रोफेसर गो० खुशाल जैन एम. ए., साहित्याचार्य

श्री कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस., डी. एल

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) विदेश में ३।) एक प्रति का १।।)

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

विषय-सूची

१ अरब, अफगानिस्तान और ईरान में जैनधर्म—श्रीयुत बा० कामता-
प्रसाद जैन M. R. A. S., D. L. ७८

२ तौलव के जैन पालेयगार—नरेश—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री,
विद्याभूषण, मूढ़विद्री ८८

३ जिनचन्द्र सूरिजी को महाराजा अनूप सिंह जी के दिये हुए दो पत्र
—श्रीयुत बा० अगरचंद नाहटा ९३

४ बृहत्तर भारत में जैन संस्कृति के प्रभाव की खोज—श्रीयुत बाबू
ज्योति प्रसाद जैन एम० ए०, एल-एल० बी० .... १०१

५ जैन मूर्त्तियों की प्राचीनता—ऐतिहासिक विवेचन— १०५

६ जैन सिक्के—श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य, शास्त्री साहित्यरत्न ११०

७ विविध विषय—श्रीयुत पं० माधवराम शास्त्री, न्यायतीर्थ

१ नेमिचन्द्रिका १२३

२ पुण्यास्रव कथाकोष की प्रशस्ति १२६

३ त्रैलोक्य प्रदीप १२८

८ साहित्य-समीक्षा—

१ पञ्चाध्यायी १३३

२ तत्त्वार्थसूत्र (हिन्दी विवेचन) १३३

३ अपभ्रंश प्रकाश १३४

४ प्रशम रति प्रकरण १३४

५ न्यायावतार १३५

६ प्रशस्ति संग्रह १३५

७ जैन धातु प्रतिमा लेख (प्रथम भाग) १३६

— नेमिचन्द्र शास्त्री

८ समाज और जीवन १३६

९ जीवन जौहरी १३७

— प्रो० राजेश्वरी दत्त मिश्र एम० ए०

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

१० समाज मनोविज्ञान के कुछ पहलू—प्रो० रामनरेश सिंह एम० ए० .... १३७
११ आत्म दर्शन (प्रथम भाग) १३७
१२ भक्तामर स्तोत्र सार्थ १३८
१३ दीपमालिका विधान १३८
१४ मोक्ष शास्त्र १३९

— माधवराम न्यायतीर्थ

सम्पादकीय—

१ आगामी अंक—श्री देवकुमाराङ्क १४०
२ सम्राट् अकबर पर जैन धर्म का प्रभाव १४२
३ कवि शिखरचन्द १४७
४ जैनागम में वितत भिन्न का अध्यात्मरूप १४८

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

श्रीजिनाय नमः

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग १७ | दिसम्बर १९५०। पौष, वीर नि० सं० २४७७ | किरण २

अरब, अफगानिस्तान और ईरान में जैनधर्म

[ले०—श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन, M. R. A. S., D. L.]

जैनधर्म वीतराग विज्ञान है, वह विशुद्ध धर्मतत्त्व है, इसीलिये वह विश्वधर्म कहा गया है। मानव जो अपने चैतन्य विज्ञान को प्राप्त होना चाहता है वह इस धर्मतत्व को पहिचानता, उस पर विश्वास लाता और उसकी चर्या में मगन हो जाता है। जैनाचार्य सदा ही धर्मतत्व का प्रतिपादन करते हुये सर्वत्र विचरे हैं। उनका ध्येय ही अज्ञान अंधकार को मिटाना होता है। वह अपने अज्ञान शत्रु को जीतते हैं और लोक को ज्ञानदान देते हैं। यही कारण है कि जैनकथा ग्रन्थों में हमको ऐसे प्रकरण उन दूर दूर देशों के मिलते हैं, जहां जैनाचार्य और उनके शिष्य पहुंचे थे; उन्होंने वहां के लोगों को सम्बोधा और उनको धर्म के मार्ग में लगाया। किन्तु समय के फेर से उस प्रकार के जैन जगत के दर्शन अब केवल भारत में ही होते हैं। जैन शासन सूर्य का अवसान मौर्यों के साथ ही हो चला—फिर तो जैनों पर सर्वत्र आक्रमण ही होते रहे और जैन गौरव की लालिमा भी शेष न रही। इस दुर्दशा में जैनकीर्ति के दर्शन भारत के बाहर भला कहां से हों? किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि जैनधर्म भारत में ही सीमित रहा—भारत के बाहर नहीं गया। एक समय तो जैनधर्म सारे मध्य एशिया, लंका, बर्मा, चीन, तिब्बत, अफरीका आदि देशों में फैला हुआ था। हजारों वर्ष हो गये कि उसका स्थान अन्य धर्मों ने ले लिया। जिस लंका में जैनधर्म राजधर्म कई शताब्दियों तक रहा और जैनाचार्यों ने वहां के शासकों से सम्मान प्राप्त किया तथा अपने मंदिर और

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

विहार बनवाये, वहां ही आज जैनों का एक भी चिन्ह शेष नहीं है। बौद्धधर्म ने अपना आधिपत्य लंका में जमा लिया[1]। यही हाल अन्य देशों में हुआ। फिर भी साहित्य में ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनके आधार से यह निस्सन्देह मानना पड़ता है कि भारत के बाहर दूर-दूर देशों तक जैनधर्म का प्रचार किया गया था। प्रस्तुत लेख में हम अफगानिस्तान, अरब और ईरान के देशों में जैनधर्म के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं। पाठक देखेंगे कि जैनधर्म किस प्रकार इन देशों में प्रचलित था।

अफगानिस्तान

अखण्ड भारत की पश्चिमोत्तर सीमा को पार करके जब हम हिन्दुकुश पर्वत के उस ओर खैबर के दर्रे को लांघकर पहुंचते हैं तो अफगानिस्तान की भूमि में जा खड़े होते हैं। प्राचीन काल में यह भूमि ईरान की सीमातक भारतवर्ष का ही एक भाग मानी जाती थी। जैनधर्मानुयायी मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्त के बृहद् साम्राज्य की पश्चिमोत्तर सीमा अफगानिस्तान के परे ईरान की सीमा के साथ-साथ समरेखा में चलती थी। बहुत समय तक अफगानिस्तान भारत के आधीन रहा-लोग उसको 'उत्तरीय भारत' कहते थे[2]। किन्तु आज अफगानिस्तान तो दूर रहा; भारत के अपने ही अंग सिंध-पंजाब आदि भी पर राष्ट्र बन गये हैं। इस समय अफ़गानिस्तान २४५००० वर्ग-मील में फैला हुआ है और उसमें पचास लाख मानव बसते हैं। सन् ई० से ५०० वर्ष पहले दारा विस्ताप के (Darius Hystaspes) समय में वहां सारङ्गी, अरिय, सत्तगिदीय, अपरित, ददिक, गन्धारी और पक्तेस नामक जातियाँ अलग २ राज्य करती थीं। उपरान्त काल में इंडोग्रीक राजाओं का शासन अफगानिस्तान पर हुआ था। इन राजाओं में देमेत्रिय (Demetrius) और मेनेन्दर (Menander) उल्लेखनीय थे। कनिष्क के साम्राज्य का विस्तार अफगानिस्तान से भी आगे तफ फैला हुआ था। सन् ६३०-६४५ ई० में चीनी पर्य्यटक हुएनत्सांग ने तुर्की और भारतीय राजाओं को अफगानिस्तान में राज्य करते हुए पाया था। किन्तु सुबुक्तगीन ने दसवीं शताब्दि में हिन्दू

१ जैन सिद्धान्त भास्कर भा० १६ पृ० ६१-६८

२ चीनी यात्री फाह्यान (३९९-४१३ ई०) ने यही लिखा है:—
"The country of Wuchang commences North India. The language of nud – India is used by all".
इस पर श्री रनजीत पंडित ने लिखा था:—
The eminent Chinese Buddhist pilgrim Fahien, who visited India passed through Afghanistan, which he calls = 'North India'
—Modern Review, 927. pp. 132

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

राज्य का अन्त कर दिया था[1]। इस इतिहास से स्पष्ट है कि अफगानिस्तान से भारत-वासियों का सम्पर्क एक अत्यन्त प्राचीन काल से रहा है।

जैन शास्त्रों में यद्यपि अफगानिस्तान नाम से कोई उल्लेख नहीं मिलता है, परन्तु फिर भी उन देशों के विवरण मिलते हैं जो अफगानिस्तान में हैं। वास्तव में अफगानिस्तान नाम अर्वाचीन है। पूर्वकाल में यह प्रदेश बहली अथवा बाल्हीक और यवन (जौण) नाम से प्रसिद्ध था। जैन ग्रन्थ 'आवश्यक' निर्युक्ति में उल्लेख है कि प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव का विहार अम्बड़, बहली, इल्ला, जोणग और पल्हव देशों में भी हुआ था[2]। बौद्धग्रन्थ 'महावंश' से प्रकट है कि योन देश में अलसन्द एक मुख्य नगर था, जिसे विद्वानों ने कावुल के पास वाले नगर अलेक्जन्डरिया (Alexandria) माना है[3]। जैनों का कथन है कि प्रथम चक्रवर्ती भरत ने इस क्षेत्र पर भी विजय प्राप्त की थी। बहली राज्य की राजधानी तक्षशिला थी[4]। ऋषभदेव ने विनीता का राज्य भरत को दिया था और बहली देश का बाहुबली को शासनाधिकारी बनाया था।[5] अफगानिस्तान में जो प्रदेश बल्ख नाम से प्रसिद्ध है, वही प्राचीन बहली अथवा बाल्हीक राज्य समझना चाहिये[6]। जैन ग्रन्थों में गांधार देश का भी बहुत उल्लेख मिलता है। गांधार की राजधानियाँ पुष्करावती और तक्षशिला बताई गई हैं। संभव है किसी समय बहलीदेश गांधार नाम से प्रसिद्ध हुआ हो। पुष्करावती आजकल पेशावर नामसे प्रसिद्ध है। अब वह पाकिस्तान में है। इन स्थानों पर जैन मन्दिर बने हुए थे। तक्षशिला में भ० महावीर की प्रतिमा अति प्रसिद्ध थी। कहते हैं, वही चन्दन की प्रतिमा वीतभयनगर में पहुंची थी और गांधार के लोग—जैन श्रावकगण उसके दर्शन करने के लिये वीतभय जाया करते थे। (आवश्यक चूर्णि, पृ० ३९९) उस समय भी भारतीय जवण (यवन) आदि देशों को अनार्य समझते थे। जवणदेश की परिचारिकाएँ भारत में बहुत प्रसिद्ध रह चुकी हैं। भरत चक्रवर्ती सिन्धुनदी को पार करके इन देशों में पहुँचे थे। इसे उन्होंने बहुत सुन्दर और रत्नों से भरपूर पाया था। बहली देशके घोड़े बहुत प्रसिद्ध थे[7]। उसी प्रकार कम्बोज देशके घोड़े भी भारत में प्रख्यात थे। काश्मीर के उत्तर में बदख्शा और घालचा का प्रदेश

१ हिन्दू विश्वकोष, भाग १ पृ० ६७८–६८०

२ श्री जिनसेनाचार्य कृत हरिवंशपुराण में योणग का उल्लेख यवनश्रुति नाम से हुआ है।

३ महावंश २९–३९ एवं इंडियन हिस्ट०-क्वारटर्ली, १९२६ पृ० २२२

४ आवश्यकचूर्णि पृ० १८०—Life in Ancient India, p. 270

५ Ibid आ० चूर्णि पृ० १६०

6 J. C. Jain, Life in Ancient India, pp. 264-290

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

कम्बोज नामसे प्रसिद्ध था[1]। जैनों की आबादी इन देशों में भी थी। सम्राट् चन्द्रगुप्त और उनके पौत्र अशोक एवं प्रपौत्र सम्प्रति ने अहिंसा और जैनधर्म का प्रचार इन देशों में किया था। यही कारण है कि जब सातवीं शताब्दि में चीनी पर्यटक हुएनत्सांग वहाँ आये तो उन्हें वहाँ पर बहुत से दिगम्बर जैनी मिले थे[2]। शङ्कराचार्य के विषय में भी कहा जाता है कि उन्होंने बाल्हीक में जाकर दिगम्बर जैनों से शास्त्रार्थ किया था[3]। इसके बहुत पहले इंडोग्रीक राजाओं में मेनेन्डर के विषय में बौद्धग्रन्थ 'मिलिन्दपण्ह' से प्रकट है कि जैन श्रमणों से उसने शङ्कासमाधान किया था। किन्तु आठवीं शताब्दि के पश्चात् अफगानिस्तान में जब मुसलमान शासक राज्याधिकारी हो गये, तब भारत से उसका सम्पर्क टूट-सा गया। जैनधर्म का स्थान वहाँ पहले से ही बौद्धधर्म लेता आ रहा था। यही कारण है कि वहाँ जैनधर्म का ह्रास हो गया और जैन कीर्तियाँ बौद्ध बना ली गयीं।

पेशावर से उत्तर पूर्व में चालीस मील की दूरी पर युसुफजाइ नामक प्रदेश में शाहबाजगढ़ी नाम के स्थान पर सम्राट् अशोक ने ठीक वहीं शासन लेख उत्कीर्ण कराया था जो उन्होंने जैनतीर्थ गिरिनार में खुदवाया था[4]। इसमें उन्होंने भिन्न मतों, साधुओं और गृहस्थों का उल्लेख किया है और उनसे यही आशा की है कि वे सब वचनगुप्ति का पालन करेंगे और एक दूसरे पर आक्षेप नहीं करेंगे। इस उल्लेख से भी स्पष्ट है कि अशोक के समय में भी कपिस से पुरुषपुर (पेशावर) तक अनेक मत मतान्तर प्रचलित थे। सिकन्दर को भी तक्षशिला में कई भारतीय साधु मिले थे, जिनमें नग्न जैन श्रमण भी थे। यूनानियों ने उनको (Gymnosophists) नामसे पुकारा था[5]। अफगानिस्तान में समती देश नामक राजा ने सन् ८९२ से ९९९ तक सभी इस्लामी राज्यपर शासन किया था। उसके विषय में कहा जाता है कि उसने

1 Ibid, p. 292.

2 "There are some ten temples of the Devas and thousand or so of heretics; there are naked ascetics and other....." (Yuan Chwang). Thus Digambara Jainas, Pashupats, and Kapaladharins flourished in the north of Kabul. —Modern Review, 1927, p. 138

३ "प्रति पद्य तु बाहलिकान्महर्षौ विनयिभ्यः प्रविवृण्वति स्वभाष्यम्।
अवदन्नसहिष्णवः प्रवीणाः समये केचिदथाऽऽर्हताभिधाने ॥१४२॥
—श्री मच्छंकर दिग्विजय

४ अशोक के शिलालेख

5 Encyclopaedia Britannica, Vol. XXV, 11th ed.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

काबुल और पूर्वीय अफगानिस्तान में रहनेवाले पंडितों से सम्पर्क स्थापित किया था और उसके मंत्री अल्जैहनि ने भारतीय संस्कृति का प्रचार इस्लामी देशों में किया था[1]। राजा का नाम समनीडेस (Samanides) श्रमणदास का अपभ्रंश प्रतीत होता है। संभव है, यह राजा जैन अथवा बौद्ध पंडितों का शिष्य रहा होगा। सारांशतः भ० महावीर के समय से ईस्वी आठवीं शताब्दि तक जैनधर्म गान्धार, बहली यवन, कपिस आदि देशों में प्रचलित रहा। यह सभी देश पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त से अफगानिस्तान तक फैले हुए थे। तक्षशिला तो रावलपिंडी से कुछ दूरी पर ही अवस्थित थी।

सन् १९२२ में फ्रञ्च विद्वान् डा० फौशेर ने अफगानिस्तान के पुरातत्व की खोज की थी, जिसमें उनको बौद्धधर्म की बहुत-सी प्राचीन कीर्तियाँ मिली थीं। उनमें से कई का सम्बन्ध लोगों ने इस्लाम से जोड़ रक्खा था। उनमें से बहुत-सी कलामय वस्तुएँ वह फ्रान्स ले गये थे। उनके पश्चात् और भी कई फ्रेञ्च विद्वानों ने खोज की थी। उनको अनेक गुफामंदिर, मूर्तियाँ, स्तूप और स्तम्भ मिले थे। उन सबको वे बौद्ध बताते हैं—वे प्रायः हैं भी बौद्ध; किन्तु गुफामंदिर और स्तूप एवं स्तम्भ जैन भी हो सकते हैं। जबकि जैनधर्म वहाँ पर प्रचलित था तब यह संभव नहीं कि उनके धर्मायतन वहाँ न हों। खोज करने की आवश्यकता है। काबुल में "मीनार चकरी" (Pillar of wheel) नामक स्तम्भ की आकृति और बनावट ठीक वैसी ही है जैसी कि दक्षिणभारत के जैन मंदिरों में बने हुए स्तम्भों की होती है। बमियान नामक स्थान पर गुफामंदिर और बुद्ध की विशालकाय मूर्तियाँ मिली हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त ऐतिहासिक उल्लेखों को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि अफगानिस्तान में कभी भी जैनधर्म का प्रचार नहीं हुआ था। मौर्यों के समय में वहाँ जैनधर्म खूब प्रचलित था।

अरब—

अफगानिस्तान की तरह ही अरब के विषय में भी हमें ऐसे उल्लेख मिलते हैं, जिससे मानना पड़ता है कि अरब में भी जैनधर्म का प्रचार था।

अरब प्रायद्वीप दक्षिण-पश्चिम एशिया में अक्षांश ३४°३०′ एवं १२°१५′ ३० और अवस्थित है। इसके पश्चिम में लोहितसागर, दक्षिण में अदन की खाड़ी तथा भरतसागर, पूर्व में ओमन तथा ईरान की खाड़ी और उत्तर में सीरिया की मरुभूमि है। इसका क्षेत्रफल बारह लाख वर्गमील है। अरब शब्द हिब्रू भाषा का है,

१ मॉडर्न रिव्यू, फरवरी १९२७, पृ० १३३

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जिसका अर्थ है 'अस्त होना'। भावार्थ-वह सूर्यास्त होने की ओर अवस्थित है। कोई उसे हिब्रू के 'अराबा' शब्द से सम्बद्ध करते हैं, जिसका अर्थ 'मरुभूमि' हैं। दोनों ही व्युत्पत्तियां अरब के लिए सार्थक हैं। प्राचीनकाल में वह अमन, हेजाज, तिहामा, नेजद और ऐमामा नामक पांच प्रदेशों में विभक्त था।[१] अरब लोग सेमतिक जातीय हैं। इनसे भारतवर्ष का व्यापार प्राचीन काल से होता था। प्राचीन अरब जाति आद, यमूद, तस्म, जादिस, जोहीम, आमलेक प्रभृति कई शाखाओं में विभक्त थी— आजकल वे 'असली' अरब कहलाते हैं। दूसरे लोग 'खाती' हैं जो खातनवंश से निकल कर वहाँ बसे हैं, इस्लाम के पैगम्बर मुहम्मद सा० का जन्म अरब में हुआ था। उनसे पहले अरब में जो लोग बसते थे, वे नक्षत्रों, सूर्य, चन्द्र और अन्य देवी-देवताओं की पूजा करते थे।[२]

जैन शास्त्रों में अरब देश की गणना अनार्य देशों में की गई है। वहाँ हसक लोग उत्पन्न होते बताये हैं।[३] इसको 'द्वीप' (दीव) भी कहते थे और वहाँ के सिक्के 'साभरक' कहे जाते थे।[४] उसका उल्लेख जलपट्टन के रूप में इसलिए किया गया है कि अरब से समुद्र द्वारा व्यापार किया जाता था। मौर्य सम्राट् सम्प्रति ने अरब देश में भी जैन मुनियों के विहार की व्यवस्था की थी।[५] उस समय से अरब में जैनधर्म का प्रचार हुआ था, जो मुहम्मद सा० के समय तक वहाँ प्रचलित रहा। श्रवणबेल्गोल के भट्टारक चारुकीर्ति का मत रहा है कि दक्षिण भारत में बहुत से जैनी अरब से आकर बसे हैं। उनका कहना था कि पहले जैनी सारे आर्यखंड (आज के सारे विश्व में) फैले हुए थे। अरब के पार्श्वभट्टारक राजा की आज्ञा से जैनों के प्रति अत्याचार किया गया— इस कारण वे भारत चले आए।[६] पार्श्व संभवतः पारस्य का अपभृष्ट रूप हैं। पारस्य के राजा का अधिकार अरब पर हुआ था, तभी

१ हिन्दी विश्वकोष, भा० २ पृ० १५३–१५५

२ हिन्दी विश्वकोष भा० २ पृ० २५७–१५६

३ प्रश्नव्याकरण (हैदराबाद संस्करण) पृ० २४

4 Life in Ancient India p. 281

५ परिशिष्ट पर्व भा० २ पृ० ११५–२४ एवं जैन सिद्धान्त भास्कर, भा० १६ पृ० ११४–१२७

6 "Formerly they (Jains) were very numerous in Arabia, but that about 2500 years ago, a terrible opersecution took place at Mecca by orders of a king named Parshwa Bhattaraka, which forced great numbers to come to this country". —Asiatic Researches Vol IX p. 284

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

उसके भय से जैनी भारत चले आये होंगे। दक्षिण भारत के राजवंशों और संघों में एक का नाम 'यवनिका' वा 'यमनिका' मिलता है। इस वंश के राजा मक्का गये थे।[1] संभव है कि यह जैनी अरब के 'यमन' प्रदेश के रहनेवाले होंगे, जो भारत आने पर अपने देश के नाम से प्रसिद्ध हुये। तामिल भाषा के प्राचीन ग्रंथों में अरब मुसलमानों के लिए 'सोनिक' (Sonaka) शब्द का प्रयोग हुआ है; किन्तु साथ ही साथ जैनों को भी सोनक लिखा है।[2] इसका कारण यही है कि अरब-वासी लोगों में जैनों की संख्या पर्याप्त थी। इस प्रकार साहित्यक उल्लेखों से अरब में जैनधर्म का प्रचलित होना सिद्ध है।

पारस्य अथवा ईरान—

आजकल जिस देश को ईरान कहा है, प्राचीन काल में वह एरान और पारस्य नाम से प्रख्यात था। आर्य लोगों का वासस्थान होने के कारण वह प्रदेश आर्याना (Ariana) कहलाता था, जिसका अपभ्रंश एरान हुआ। उपरान्त आज से लगभग ५०० वर्षों पहले से एरान को वहाँ के लोग ईरानी कहने लगे। ईरान प्रदेश में बहुत पहले एक नगर परस (Persis) नामक था। वहाँ के राजा अखमनीय (Achaemenian) ने आकर एक साम्राज्य स्थापित किया था। इस कारण सारा प्रदेश 'पारस्य' नाम से प्रसिद्ध हो गया था। बेरोसस (Berosus) नामक इतिहासज्ञने लिखा है कि ईसा के जन्म से प्रायः दो हजार वर्षों पहले मिद्स (मद्र) जाति ने बाबिलन पर अधिकार किया और उसके आठ राजाओं ने यहाँ २२४ वर्षों तक राज्य किया था। उपरान्त यहाँ यूनानियों का शासन हुआ, जिसके उत्तराधिकारी पार्थीयन हुये। अन्त में यह राज्य खलीफाओं के अधिकार में पहुंचा था। आजकल भी ईरान में मुसलमानों का स्वतंत्र राज्य है।[3]

जैनों को पारस्य का पता प्राचीन काल से था। 'प्रश्नव्याकरण' सूत्र ग्रंथ में इसकी गणना अरब के साथ की गई है।[4] भारतीय व्यापार के लिए यह देश एक प्रमुख केन्द्र था, जहाँ दूर-दूर के व्यापारी आया करते थे।[5] जैन वणिक् अयल

१ मद्रास मैसूर प्राचीन जैन स्मारक पृ० ७६ व ६० तथा संक्षिप्त जैन इतिहास, भा० २ खंड २ पृ० १६३.

२ यह बात हमको तामिल विद्वान् प्रो० बी० जी० नायर ने बताई है। वह इस पर एक लेख लिख रहे हैं।

३ हिन्दी विश्वकोष भा० १३ पृ० ३१५-३२६

४ प्रश्नव्याकरण सूत्र (हैदराबाद संस्करण) पृ० २४

५ आवश्यक चूर्णि पृ० ४४८—Life in Ancient India, p. 320

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

उज्जैन से यहाँ आये थे और यहाँ से वेण्यातट नामक जल पट्टन को गये थे।[१] श्वे० जैनाचार्य कालक भी हिन्दुगदेश अर्थात् भारत से यहाँ आये थे। यहाँ के लोग भैंस के सींगों के सुन्दर हार बनाया करते थे और पनसफल से अनभिज्ञ थे।[२] पारस्य का ही एक भाग पह्लव कहलाता था। जैनशास्त्रों में उल्लेख है कि तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने पह्लव में भी विहार किया और धर्मोपदेश दिया था। साथही यह भी उल्लेख है कि जब द्वारावती नगरी भस्म हो गई तब बलदेव के पुत्र कुब्जराय पह्लव देश को गये थे।[३] पह्लवों को आधुनिक विद्वान् पार्थीजन (Parthians) बताते हैं।[४] एक समय पार्थीय (Parthians) लोग भारत में आये थे और उनमें से अनेक जैनधर्म में दीक्षित हो गये थे। मथुरा के कंकालीटीले की खुदाई से जो जिनमूर्तियाँ मिली हैं उनमें से एक आखारिका नामक पार्थीयन महिला द्वारा प्रतिष्ठित कराई गई थी।[५] पारस्य के अखमनिशवंश के राजाओं में कम्बुजाय, कुरुस, आर्यराम्न आदि नामक कई राजा हुए थे[६]। बलदेव पुत्र कुब्जवा और कम्बुजाय का सादृश्य है। जो हो, यह निश्चित है कि ईरान से भारतीय जैनों का सम्बन्ध प्राचीन काल से था।

भगवान महावीर के समय में मगध सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार के पुत्र अभयकुमार के मित्र पारस्यदेश के राजकुमार आद्रकुमार थे। भ० महावीर का उपदेश सुनकर वह श्रमण मुनि हो गये थे और उन्होंने धर्म का प्रचार किया था[७]। सम्राट् सम्प्रति मौर्य के विषय में हम लिख चुके हैं कि सम्प्रति ने अरब-ईरान आदि देशों में जैन मुनियों का विहार कराकर धर्मप्रचार किया था। इनसे पहले सिकन्दर महान् अपने साथ भारत से कल्याण नामक दि० जैन श्रमण को ले गया था, जो ईरान के सुसा (Susa) नामक स्थान में स्वर्गस्थ हुए थे।❀

आधुनिक विद्वानों में मेजर-जेनरल जे० जी० आर० फरलाना सा० ने भी अपनी

---

१ Ibid, p. 321

२ निशीथ चूर्णि ७ पृ० ४६४ एवं आवश्यक चूर्णि पृ० २७— (Ibid)

३ उत्तरा० २ पृ० २६— Ibid, p. 319

4 Geog: dictionary of Ancient & Med: India, Dey. p. 134

५ भाण्डारकर वाल्यूम, पृष्ठ २८५-२८८

६ हिन्दी विश्वकोष, भा० १३ पृ० ३१६

७ संक्षिप्त जैन इतिहास, भा० २ खंड १ पृ० २१-२२

❀ Gymnosophists whom the Greeks found in Western India..... were Jains..... and that it was a company of Digambaras of this (Jain) sect that Alexander fell in with near Taxiles, one of whom Calanus followed him to Persia. —JRAS Jany 1855.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

स्वाधीन खोज द्वारा यह घोषित किया था कि दुनियाँ के पुराने मतों पर जैनधर्म की शिक्षा का असर पड़ा था। ईरान में भी जैनधर्म प्रचलित था। उनके मतानुसार अक्षयन (Oxiana), कस्पिया (Kaspia) और बल्ख एवं समरकन्द के नगर जैनधर्म के मुख्यकेन्द्र रहे[1]। निस्सन्देह ईरानियों में सूर्य्योपासक सम्प्रदाय का जन्म जैन राजा आनन्दकुमार के निमित्त से हुआ जैनशास्त्र बताते हैं[2]। उधर जरदस्त (Zoroaster II) के विषय में कहा जाता है कि उसपर जैन श्रमणों की अहिंसा ने काफी असर डाला था; जिसके परिणामस्वरूप उसने हिंसक यज्ञों और बलिदानों का अन्त कर दिया था[3]। जैनधर्म की अहिंसा का प्रभाव ईरान में बहुत समय तक रहा था। मुसलमानों के शासनकाल में भी उसका प्रभाव देखने को मिलता है। अबुअला नामक मुसलमान दरवेश का जीवन अहिंसा के रंग में रंगा हुआ था। वह हिंसा से ऐसा भयभीत था कि चमड़े के जूते भी नहीं पहनता था। अनुमान किया जाता है कि बसरा को जो जैन व्यापारी जाते थे उनके सम्पर्क में वह आया था और उनकी अहिंसा से प्रभावित हुआ था[4]। आज के जैन व्यापारियों को अपने पूर्वजों की इस धर्मलगन से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

इस प्रकार अफगानिस्तान, अरब और ईरान में जैनधर्म के अस्तित्व का पता चलता है। आज पुनः हमको जैनधर्म का प्रचार सारे संसार में करना है। अहिंसा धर्म के प्रचार की आज विश्व को आवश्यकता है।

1 "Oxiana, kaspia and cities of Balkh and Samarkand, were early centres of their faith".

—The short studies in Science of Compartive Religion Intro–p. 7

२ पार्श्व पुराण देखो :

3 Jaina Antiquary, Vol IX, pp. 14–19

4 Der Jainismus, p.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

तौलव के जैन पालेयगार—नरेश

[ले०—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण मूडबिद्री]

दुःख की बात है कि अन्यत्र की ही तरह तौलव के प्राचीन जैन इतिहास के निर्माण के लिये भी हमें शिलालेखादि इतिहास सृजन के साधन बहुत ही अल्प परिमाण में उपलब्ध होते हैं। बल्कि उपलब्ध इन साधनों का डा० बी० ए० सालेतोर[1], प्रो० एस० आर० शर्मा[2] आदि कतिपय विद्वानों ने अपनी बहुमूल्य कृतियों में उपयोग किया भी है। हाँ, इसमें सन्देह नहीं है कि यहाँ पर खोजने से शिलालेखादि इतिहास निर्माण के साधन और भी मिल सकते हैं। इस प्रसंग में यह कह देना अनुचित नहीं होगा कि जे० स्टरोकर, बुकनन आदि पाश्चात्य विद्वान् प्रवासियों ने अपने लेखों में यहाँ के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, उसे उपेक्षादृष्टि से देखना समुचित नहीं होगा। इनके लेखों में गलतियाँ अवश्य हैं, फिर भी इन गलतियों के पीछे उनमें प्रतिपादित बहुमूल्य बातों को यों ही छोड़ देना बुद्धिमत्ता नहीं कही जा सकती। उपर्युक्त प्रवासियों के लेखों को आमूलाग्र पढ़कर 'हंसक्षीरन्याय' से छानबीन के साथ अच्छी बातों को एकत्रित करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

यद्यपि इस समय प्राचीन तुलुव या तौलव की मर्यादा निश्चितरूप से बताना बहुत कठिन है। फिर भी इतना तो निश्चित ही है कि गेरुसोप्पे, भटकल एवं कारकल ये तीनों इसके राजकीय अधिकार के प्रमुख केन्द्र थे। साथ ही साथ यह भी जान लेना आवश्यक है कि प्राचीन हैव-कोंकण तौलव का ही अवशेष था। यही हैव-कोंकण आजकल दक्षिण कन्नड और उत्तर कन्नड के रूप में विभक्त है। इस समय दक्षिण कन्नड मद्रास प्रान्त में और उत्तर कन्नड बंबई प्रान्त में सम्मिलित हैं। प्राचीन जैन गुरु परंपरा आदि से उपलब्ध श्वेतपुर (बिलिगि), सुधापुर (सोदे), संगीतपुर (हाडुहल्लि) और सुवर्णपुर (होन्नावर) आदि भी तौलव के ही प्राचीन प्रमुख स्थान थे। बल्कि मूडबिद्रीय चन्द्रनाथ जिनालय के एक शासन से सिद्ध होता है कि वर्तमान मैसूर राज्यान्तर्गत नगर का सम्बन्ध भी तौलव से था। उस जमाने में वहाँ पर महामण्डलेश्वर जिनदास साक्व मल्ल राज्य करता रहा[3]।

कारकल के ओडेय, मूडबिद्री के चौट, नन्दावर के बंग, अलदंगडि के अजिल, बैलंगडि के मूल, और मूल्कि के सावंत आदि ये सब पहले जो कि तौलव के स्वतंत्र जैन शासक रहे, वे क्रमशः

---

1 "Medieval Jainism" तथा "Ancient Karnatak"

2 "Jainism & Karnatak Culture" Vol. I.

३ तुलुवदेशतिलकायमान नगर सिद्धसिंहासनाधिपतियागि सुवर्णपुरिविंद अलंकृतमाद हैव-कोंकण राज्यमं प्रतिपालिसुतिर्द"

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

पीछे विजयनगर आदि निकटवर्ती अन्यान्य प्रबल राजाओं के आश्रित हुए। अखंड जैन इतिहास के निर्माण के लिये इन जैन पालेयगारों अर्थात् छोटे छोटे रियासतदारों के इतिवृत्त को संग्रह करना भी परमावश्यक है। हाँ, यहाँ पर इतना तो निस्संकोच कहा जा सकता है कि स्वतन्त्र हो या आश्रित उस समय के ये सभी शासक धर्म, शिल्प और साहित्य आदि के अनन्य पोषक थे। यद्यपि विट्टिवर्धन या विष्णुवर्धन के जैनधर्म को त्याग कर वैष्णव धर्म में दीक्षित होने से एवं लिंगायत (शैव) धर्म के जन्म से मैसूर तथा अन्य कर्णाटक के जैनों पर उस समय बड़ी मुसीबत आ गयी थी। ऐसी अवस्था में तौलव में उन्हें समुचित आश्रय मिला और यहाँ के धर्मप्रेमी जैन शासकों के प्रभाव से जैन धर्म की भी श्रीवृद्धि हुई।

विजयनगर के राज्यकाल में भी तौलव में जैनधर्म की अभिवृद्धि में किसी प्रकार का विघ्न नहीं आया; क्योंकि विजयनगर के शासक जैनधर्म के विरोधी नहीं थे; प्रत्युत सहायक रहे। हाँ, ई० सन् सोलहवीं शताब्दी के मध्यभाग में इक्केरि के शैव धर्मानुयायी धर्मोन्मत्त शासकों के द्वारा जैनधर्म को आशातीत क्षति पहुँची। इन शैव शासकों में बेकप्पनायक और शिवप्पनायक के नामों को जैन समाज कभी नहीं भूल सकता। तौलव में जैनधर्म को समूल नष्ट करने के लिये उपर्युक्त धर्मान्ध शासकों ने कुछ भी उठा नहीं रखा था। किन्तु इसमें उन्हें पूर्ण सफलता नहीं मिल पायी। खासकर वैभवशाली प्राचीन जैन राजधानी बारकूर में इन शासकों ने बड़ा अत्याचार किया था।

डा० सालेतोर की राय से ई० सन् ९ वीं शताब्दी से ११ वीं शताब्दी तक अर्थात् लगभग तीन शताब्दियों में तौलव में जैनधर्म का प्रभाव विशेषरूप से रहा। आज भी इसके ज्वलन्त उदाहरण यहाँ पर यत्र-तत्र अवश्य दृष्टिगोचर हो रहे हैं। जैन प्रभाव के वे चिन्ह खासकर मूडबिद्री, गेरुसोप्पे और भटकल आदि यहाँ के प्रमुख स्थानों के शासनांकित पद्यों में विशदरूप से उपलब्ध होते हैं। शासन[1] में जिस गेरुसोप्पे की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है, उस गेरुसोप्पे का भग्नावशेष इस समय एक भयंकर जंगल के गर्भ में छिपा हुआ है। यहाँ पर आज भी भग्नावशिष्ट कलापूर्ण कई भव्य जिन भवन मौजूद हैं। ये मंदिर नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, वर्धमान एवं चतुर्मुख के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन मनोज्ञ मंदिरों में चतुर्मुख तो सर्वथा दर्शनीय है। स्थान भी बड़ा शान्त तथा सुन्दर है। पार्श्वनाथ जिनालय में विद्यमान पद्मावती एवं अम्बिका की मूर्तियाँ और नेमिनाथ मन्दिर में वर्तमान नेमिनाथ की प्रतिमा कला की दृष्टि से बहुत सुन्दर हैं। एक जमाने में जो गेरुसोप्पे जैन रानी चेन्न भैरा देवी की वैभवशाली राजधानी थी वहाँ पर

१—"इंतेसव नगरिराज्यद मध्यप्रदेशदोळ् बलसिदौप्पुव नंदनावलिगळिं कासारनीरेजदिं। कलधौतोज्ज्वलसाल कोत्तलगळिंदट्टाल जालंगळिं। विलसद्गोपुरदिं सुहर्म्यचनदिं श्रीजैनगेहंगळिं। चेलुवं ताल्दिद गोरुसोप्पे नगरं कोंडाडलाबल्लरे।"

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

आजकल दिन में जाने में भी भय लगता है। काल की गति विचित्र है। यही दुर्दशा भटकल की है। इस समय भटकल में केवल दो मन्दिर हैं। बड़े मन्दिर में तो मूर्ति ही नहीं है। हाँ, छोटे मन्दिर में पाँच मूर्तियाँ हैं।

अब विज्ञ पाठकों का ध्यान वर्तमान दक्षिण कन्नड जिला की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ, जो कि पूर्व में तौलव का ही एक मुख्य भाग रहा। ओडेय, चौट, बंग आदि जिन जैन पालेयगारों का उल्लेख ऊपर कर आया हूँ उनकी राजधानियाँ इसी जिले के भिन्न-भिन्न स्थानों में वर्तमान हैं, जिनके वंशज उन्हीं राजधानियों में तैलरिक्त निर्वाणोन्मुख प्रदीप की तरह कान्तिहीन हो अपना समय काट रहे हैं। बल्कि भटकल एवं गेरुसोप्पे में शासन करनेवाली भैरा देवी और चेन्न भैरा देवी नाम की सहोदरियाँ भी कारकल के ओडेयर की ही वंशजा हैं! अब क्रम-से उपर्युक्त जैन पालेयगारों का परिचय नीचे दिया जाता है।

बंगवंश

दक्षिण कन्नड जिले में शासन करनेवाले जैन पालेयगारों में बंगों को तौलव में अग्रस्थान प्राप्त था। उन्हें वह गौरव आज भी पूर्ववत् प्राप्त है। इस वंश के ई० स० ११५७ से पूर्व का कोई इतिहास अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। बंगों के मूल इतिहास के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। इसलिये विवादास्पद विषयों को छोड़कर ई० स० ११५७ (शा० सं० १०७९) से ही इस वंश का संक्षिप्त इतिवृत्त यहाँ पर दिया जा रहा है।

बंगराजा वीरनरसिंह (ई० स० ११५७–१२०८) गंगवंशी राजा चन्द्रशेखर गंगवाडि के अन्तर्गत एक छोटे राज्य में जब राज कर रहा था तब होय्सल राजा विष्णुवर्धन ने इसके साथ युद्ध किया और इस युद्ध में राजा चन्द्रशेखर मारा गया। इससे उसका राज्य होय्सलों के अधीन हुआ। होय्सल नरेश विष्णुवर्धन के मृत्यु-पर्यन्त चन्द्रशेखर के मंत्री कृष्णप्प, करणीक (कारिन्दा) बेंकप्प, तिम्मप्प आदि चन्द्रशेखर की रानी, राजकुमार आदि राजपरिवार के साथ दीर्घकालतक मलेनाडु (जंगल प्रदेश) में छिपकर दिन काट रहे थे। विष्णुवर्धन के मरणोपरान्त वे घाटी उतर कर बंगवाडि में चले आये। यहाँ पर आते समय वे पुरोहित, सुनार, हजाम, दर्जी, धोबी आदि अपने कुल परिवार को साथ ही ले आये; इतना ही नहीं, कुलदेव सोमनाथ और धर्मदेव शान्तीश्वर की प्रतिमा को भी। यहाँ पर नेभावती नदी के तट में विस्तृत एवं चित्ताकर्षक मैदान को देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए और कुछ दिन यहीं पर ठहर गये। इस बीच में यहाँ पर जो एक विचित्र घटना घटी थी वह इस प्रकार कही जाती है।

एक दिन हजाम राजकुमार की हजामत बनाकर अपने एक औजार को भूल से उसी जगह छोड़कर चला आया। बाद जब उसे इस बात की याद आयी तब वह लौटकर आकर देखता है कि वहाँ पर उसका औजार तो नहीं था। हाँ, औजार के बदले में उसने उस जगह पर एक

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

सर्प देखा। उसी रोज रात्रि में स्वप्न में एक कन्या के रूप में देवी पद्मावती ने प्रत्यक्ष हो मंत्री कृष्णप्प को यह आश्वासन दिया कि थोड़े ही दिनों में आप लोगों की चिर कामना पूर्ण होकर यह कष्ट अवश्य दूर होगा। साथ ही साथ देवीने उसे यह भी आज्ञा दी कि जहाँ पर हजाम का औजार गायब हुआ था वहाँ पर मन्दिर निर्माण कराकर मेरी मूर्ति को स्थापित कर देना। प्रातः काल होते ही मन्त्री ने सहर्ष सबको अपने स्वप्न का समाचार सुनाया। इस शुभ समाचार से सभी प्रसन्न हुए। इसके बाद थोड़े समय में विष्णुवर्धन का पुत्र त्रिभुवनमल्ल भुजबल वीरगंग प्रथम नरसिंह अपने प्रान्त के संदर्शन के लिये बंगवाडि में आया। उस अवसर पर राजा चन्द्रशेखर के मन्त्री, पुरोहित आदि राजकर्मचारी राजकुमार को साथ लेकर उससे जाकर मिले और अपना कुल दुःख राजा बल्लाल को सुनाया। इस दुखद समाचार से राजा वीरनरसिंह बड़ा खिन्न हुआ और सस्नेह राजकुमार को अपनी गोदी में बैठाकर चाँदी के बरतन में दूध मँगाकर अपने ही हाथ से उसे पिलाया। बाद कतिपय शुभ चिन्हों से राजकुमार को होनहार समझकर समुद्र तक के नेभावती नदी के दोनों तटवर्ती २० बल्लालों के अधीनस्थ बंगवाडि, बेलतंगडि, पुत्तूरु, बंटवाल, मंजेश्वर, मंगलूर आदि प्रान्त धारापूर्वक राजा वीरनरसिंह के द्वारा राजकुमार को दिये गये। इतना ही नहीं, राजा वीरनरसिंह ने राजकुमार को अपना ही समझकर वीरनरसिंह बंगराजा इस अपने ही नाम से उसे संबोधित किया। तब से अभी तक पट्ट के नाम के आदि में प्रायः वीरनरसिंह शब्द को जोड़ने की प्रथा चली आ रही है। राज्य के साथ ही साथ बंगराजा को पालकी, रत्नकंबल, छत्र, चामर, पट्ट का घोड़ा, पट्ट का हाथी, पट्ट की तलवार, पट्ट की अंगूठी और रणबाघ आदि सभी राजचिन्हों को वीरनरसिंह बल्लाल ने राजाबंग को सम्मानपूर्वक प्रदान किया।

उपरान्त बंगवाडि में नेत्रावती के तीर में एक महल निर्माण कराया गया और शा० श० १०७९ में फाल्गुन कृष्णा दशमी को धूमधाम से पट्टाभिषेक का शुभ कार्य संपन्न हुआ। इस पट्टाभिषेक के शुभावसर पर सभी प्रान्तों का गण्यमान्य प्रतिष्ठित प्रजावर्ग सानन्द एकत्रित हुआ था। एकत्रित इन प्रतिष्ठित बलिष्ठ व्यक्तियों में नडदगुत्तु, नालूरुगुत्तु आदि चार गुत्तुवाले राजा के प्रधान सहायक या अधिकारी घोषित किये गये। पट्टाभिषेक के समय में इन गुत्तुवालों में से एक को सिंहासन पर बैठाने का, दूसरे को पट्ट की अंगूठी पहनाने का, तीसरे को पट्ट की तलवार राजा के हाथ में देने का और चौथे को पट्ट का नाम घोषित करने का अधिकार वंशपरंपरा के लिये दिया गया। अनन्तर पूर्व सूचनानुसार जहाँ पर हजाम का औजार गायब हुआ था वहाँ पर देवालय निर्माण कराकर देवी की प्रतिमा स्थापित की गयी। बंगवाडि में वह देवालय आज भी मौजूद है। बाद इस देवालय के अतिरिक्त सोमनाथ, गणपति, वीरभद्र, शान्तीश्वर, क्षेत्रपाल, ब्रह्मनयथा आदि के लिये प्रत्येक-प्रत्येक आलय बनवाकर प्रत्येक-प्रत्येक मूर्तियों की

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

विधिवत् प्रतिष्ठा करायी गयी और उन देवालयों की पूजा आदि के लिये नियमतः भूदान आदि आवश्यक दान दिये गये।

बाद बंगवाडि में पगडेसाले नामक स्थान पर नगर बसाया गया। यह नगर क्रमशः बढ़ता गया और इसमें एक हजार से ऊपर मकान बन गये। सेना के लिये राजमहल से उत्तर में एक विशाल किला बनवा लिया गया। आज भी उपर्युक्त देवस्थान, जिनालय, मकानों के खंडहर, विस्तृत राजमार्ग आदि चीजों को हम देख सकते हैं। राजमहल का भग्नावशेष लगभग एक एकड़ जमीन में फैला हुआ है। राजमहल की उत्तर दिशा में इस समय जहाँ पर जंगल नजर आता है वहाँ पर मिट्टी का बना हुआ विशाल किला मौजूद था। राजमहल के सामने का विस्तृत राजाङ्गण अब खेत बना लिया गया है। वीरनरसिंह बंगराजा को पाँच रानियाँ थीं। यह ई० स० १२०८ में स्वर्गासीन हुआ। इसके बाद इस वंश में क्रमशः निम्न व्यक्तियों ने सुचारुरूप से राज्यशासन किया: (२) चन्द्रशेखर बंगराजा (ई० स० १२०८-१२२४), (३) पांड्यप्प बंगराजा (ई० स० १२२४-१२३६) (४) विठल देवी (ई० स० १२३६-१२६४) (५) कामराय प्रथम (ई० स० १२६४-१२७४) (६) बमदुल देवी (ई० स० १२७४-१२८७) (७) हावलि बंगराजा प्रथम (ई० स० १२८७-१३२३) (८) शंकरदेवी (ई० स० १३२४-१३४६), (६) हावलि बंगराजा द्वितीय (ई० स० १३४६-१४००), (१०) लक्ष्मप्परस बंगराजा प्रथम (ई० स० १४००-१४५५) (११) शंकरदेवी द्वितीया (ई० स० १४५५-१४६१), (१२) कामराय द्वितीय (ई० स० १४६१-१५३३), (१३) हावलि बंगराजा तृतीय (ई० स० १५३३-१५४५), (१४) लक्ष्मप्परस बंगराजा द्वितीय (ई० स० १५४५-१५५६), (१५) कामराय तृतीय (ई० स० १५५६-१६१२), (१६) लक्ष्मप्परस बंगराजा तृतीय (ई० स० १६१२-१६२६), (१७) हावलि बंगराजा चतुर्थ (ई० स० १६२६-१६३१), (१८) शंकर देवी तृतीया (ई० स० १६३१-१६५३), (१६) हावलि बंगराजा पंचम (ई० स० १६५३-१६६६), (२०) लक्ष्मप्परस बंगराजा चतुर्थ (ई० स० १६६६-१७६७) (२१) कामप्परस चतुर्थ (ई० स० १७६७-१७६६), (२२) लक्ष्मप्परस बंगराजा पंचम (ई० स० १८००-१८३८)

लक्ष्मप्परस के बाद क्रमशः कामराज (पंचम), सांतराज और पद्मराज ये तीन यहाँ की गद्दी पर आसीन हुए। यद्यपि ई० स० १७६७ से ही इस वंशवालों के हाथ से राज्य छूट गया है। फिर भी इसके बाद भी यहाँ पर शास्त्रोक्त रीति से पट्ट होता है। इस समय नंदावर का महल एकदम नष्ट हो चुका है। तो भी राजमहल के चिन्ह, किला, बाजार, राजमार्ग, देवालय, जिनमन्दिर, मसजिद आदि प्राचीन स्मारक यहाँ के गत वैभव को स्पष्ट व्यक्त कर रहे हैं। दक्षिण कन्नड जिले में नगर के चारों ओर किला सिर्फ इसी नंदावर में ही है। बंगवाडि में बंगवंशी आज भी मौजूद हैं। अस्तु, राजा वीरनरसिंह को छोड़कर जिसका परिचय ऊपर दिया जा चुका है चन्द्रशेखर आदि शेष पूर्वोक्त बंग शासक एवं शासिकाओं का संक्षिप्त परिचय भी 'भास्कर' की अगली किरण में अवश्य दिया जायगा।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जिनचन्द्रसूरिजी को महाराजा अनूपसिंहजी के दिये हुए दो पत्र

[ले०—श्रीयुत् बा० अगरचन्द नाहटा]

गुजरात एवं राजस्थान के राजाओं से जैनाचार्यों का बहुत अच्छा सम्बन्ध रहा है। प्राचीन काल में राजा प्रजा का ईश्वर समझा जाता था और राजा लोग धर्म गुरुओं को विशेष रूप से सम्मानित करते रहते थे। वे अपने सम्प्रदाय के गुरुओं की तो विशेष भक्ति करते ही थे, पर वैसे प्रत्येक सम्प्रदाय के धर्माचार्यों के प्रति आदर भाव रखते थे। उनके लिये भेंट, लवाजमे आदि की व्यवस्था रहती थी। समय समय पर राजा व राज्य का कोई विशिष्ट कार्य सम्पन्न कर देने पर आचार्यों को ग्रामादि भी मिलते थे, जिनमें से कई आजतक भी उनके कब्जे में हैं। इस प्रकार के सम्मान और राज्याश्रय के कारण उनके आचार विचार में शिथिलता आने लगी और प्रतिष्ठा के द्वारा उत्पन्न वातावरण में अहंभाव और विलासिता को प्रश्रय अवश्य मिला, परन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि इस भाँति के कार्यों द्वारा राजाओं को प्रभावित किये जाने पर धर्मप्रचार के कार्यों में सुगमता भी प्राप्त होती रही है।

भगवान् महावीर आदि जैन तीर्थंकर तो स्वयं राजा या राजपुत्र थे। अतः उनका अपने-अपने समय के राजाओं पर विशेष प्रभाव होना स्वाभाविक ही है, पर पवित्र एवं कठोर आचार-विचार, असाधारण पाण्डित्य व मंत्र, ज्योतिष, वैद्यक आदि में सिद्ध-हस्तता के कारण आपके आज्ञानुमती आचार्यों का भी अपने समय के हरजगह के राज्याधिकारियों पर प्रभाव कम नहीं रहा। आचार्य केशी ने प्रदेशी राजा को, आर्य सुहस्ती ने सम्प्रति राजा को, आ० सिद्धसेन दिवाकर ने विक्रमादित्य को, आचार्य बप्पभट्टिसूरि ने आम राजा को, आचार्य हेमचन्द्र ने सिद्धराज व कुमारपाल को तथा मुसलमान सुल्तान महमद को जिनप्रभसूरि ने, सम्राट् अकबर को हीरविजयसूरि एवं जिनचन्द्रसूरि ने प्रभावित किया था, जिसके यथेष्ट प्रमाण जैन इतिहास में पाये जाते हैं। इसी प्रकार दिगम्बर आचार्यों ने दक्षिण के अनेक राजाओं को जैनधर्मानुयायी व अनुरागी बनाया था।

मध्यकाल में साम्प्रदायिक संघर्ष भी चलते रहते थे अतः एक सम्प्रदाय के आचार्य व विद्वान के साथ दूसरे सम्प्रदाय के विद्वान से शास्त्रार्थ भी प्रचुर परिमाण में हुआ करते थे। उन शास्त्रार्थों का जनता पर अधिकाधिक प्रभाव हो इस उद्देश्य से वे

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

प्रायः राजा की अध्यक्षता में हुआ करते थे। राज-सभाओं में पंडितों का जमघट लगा रहता था और उनका एवं राजा का निष्पक्ष निर्णय अंतिम निर्णय माना जाता था। बौद्धों के प्राबल्य काल में उनसे जैनाचार्यों के शास्त्रार्थ होते थे फिर चैत्यवासियों एवं सुविहितों में, दिगम्बर श्वेताम्बरों में भी राज सभा में कई बार शास्त्रार्थ हुए, जिनका उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में पाया जाता है। इनमें मल्लवादि का बौद्धों से, जिनेश्वरसूरि का पाटण के दुर्लभराज की सभा में चैत्यवासियों से, वादिदेवसूरि का दि० कुमुदचन्द्र से और जिनपतिसूरि का पृथ्वीराज चौहान की सभा में पद्मप्रभाचार्य से शास्त्रार्थ हुआ था, वह विशेष रूप से उल्लेख योग्य है।

जैनाचार्यों के प्रति आदर भाव रखने के साथ-साथ कई नरेशों ने उनके उपदेश से अपने साम्राज्य में अमारी-उद्घोषणा करवाई, कइयों ने जैन मंदिरों को दान दिया, ध्वजा कलशादि रोपण करवाये अर्थात् विविध प्रकार से जैनधर्म की महिमा बढ़ाई व अपनी श्रद्धाभक्ति प्रकट की, जिनका उल्लेख भी ग्रन्थों, प्रशस्तियों व शिलालेखों में पाया जाता है।

जैनाचार्यों को राजाओं ने पट्टे परवाने भी दिये हैं और उनसे पारस्परिक पत्र व्यवहार भी होता रहा है, पर वे पुराने कागज़ात में असावधानी व उपेक्षा के कारण बहुत कुछ नष्ट हो गये हैं। वर्त्तमान में सम्राट् अकबर से पहले के किसी भी राजा व बादशाह के दिये हुये फरमान, पट्टे, परवाने व पत्र मूल रूप में प्राप्त नहीं हैं। इसके बाद के भी ऐसे बहुत से कागज़ात जिन्हें वे दिये गये थे, उनके पट्टधरों के पास या भंडारों में पड़े रहने के कारण अज्ञात अवस्था में पड़े हुए हैं। जिनके पास हैं वे उनको अब महत्त्व के नहीं समझते या संकुचितता के कारण बहुत व्यक्ति तो उन्हें किसी विद्वान् तक को दिखाते नहीं। हमने कुछ इधर उधर से थोड़े से कागजात संग्रह किये हैं जिनको प्रकाश में लाने का श्रीगणेश इसी लेख द्वारा हो रहा है। दि० भट्टारकों के के पास भी ऐसी बहुत कुछ महत्वपूर्ण सामग्री होगी। जिनको प्रकाश में लाने की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित करता हूं।

बीकानेर राज्य की स्थापना व उत्कर्ष में जैनों का गौरवपूर्ण स्थान रहा है। फलतः वहां के नरेश जैनाचार्यों के प्रति विशेष आदर रखें यह स्वाभाविक ही है। यहां श्वे० खरतरगच्छ, उपकेशगच्छ व लोंकागच्छ के श्रीपूज्यों की गद्दियां हैं। जिनमें से खरतर-गच्छ वालों का ही सर्वाधिक प्रभाव रहा है। राज्यस्थापना से लेकर करीब १५० वर्षों तक मंत्री आदि उच्च पदों पर ओसवाल-वच्छावत वंश के व्यक्ति रहे हैं, वे खरतरगच्छ अनुयायी थे और विद्वत्ता आदि की दृष्टि से खरतरगच्छ के आचार्य व यतिगण बहुत

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

प्रभावशाली रहे हैं अतएव उनका यहां के राजाओं पर विशेष प्रभाव रहा है। जब कोई श्रीपूज्य जी की पद स्थापना होती, राज्य की ओर से दुशालादि भेंट मिलते। उनके नगर प्रवेश में हाथी, घोड़े, रथ आदि लवाजमा मिलता। अन्य भी खास २ प्रसंगों पर उन्हें कहीं जाना होता तो राज्य की ओर से उनके लिये रत्नादि सवारी मिलती; इस प्रकार के विविध सम्मान अबतक प्राप्त हैं।

महाराजा रायसिंहजी से पहले के राजाओं के जैनाचार्यों के सम्बन्धों के विषय में तो कुछ निश्चित ज्ञात नहीं। पर महाराजा रायसिंहजी के (कुं० दलपति के साथ सं० १६४९ के फाल्गुन सु० २ को लाहोर में) जिनचन्द्रसूरिजी को बहराई हुई कई हस्तलिखित जैन ग्रन्थों की प्रतियां प्राप्त[1] हैं। आपके सुपुत्र अनूपसिंहजी बड़े विद्याविलासी नरेश थे जिन्हों ने स्वयं संस्कृतादि में अनेक ग्रन्थ बनाये व उनके आश्रित विद्वानों के महत्व-पूर्ण अनेक ग्रन्थ उपलब्ध[2] हैं। बीकानेर की अनूप संस्कृत लाइब्रेरी आपके असाधारण विद्यानुराग की परिचायक है। आपके समय में खरतरगच्छ में जिनचन्द्रसूरि नामक विद्वान् आचार्य थे जिनके साथ आपका पत्रव्यवहार होता ही रहता था। इनमें से महाराजा अनूपसिंह के जिनचन्द्रसूरिजी को दिये हुये दो पत्र और सूरिजी के महाराजा को दिये ४ पत्रों की नकलें हमारे संग्रह में हैं। प्रस्तुत लेख में उनकी नकलें दी जा रहीं हैं। यह पत्र व्यवहार संस्कृत में ही हुआ है। महाराजा के दोनों पत्रों में संवत् नहीं है, केवल तिथि ही दी है। अतः इनमें पहले का पत्र कौन सा है, निश्चित नहीं कहा जा सकता। सूरिजी के दिये हुये पत्रों में एक का अंतिम अंश त्रुटित है। दूसरे का प्रारम्भिक थोड़ासा अंश त्रुटित है। दो पत्रों में संवत् का उल्लेख पाया जाता है। सूरिजी के एक पत्र में महाराजा के पुत्र होने का अन्य में ३ पुत्रों का उल्लेख है। इसी पत्र में ढूँढियों के प्रचार को रोकने के लिये महाराजा को लिखा गया है। इससे एक ऐतिहासिक तथ्य का पता चलता है कि उस समय ढूंढियों का प्रचार काफी तेजी से बढ़ रहा था। जोधपुरादि में भी उसको रोकने का प्रयत्न किया गया था ऐसा उल्लेख अन्यत्र प्राप्त है। परम विद्यानुरागी महाराजा अनूपसिंह के पश्चात् जिनसुखसूरि को दिये गये सुजान सिंह के दो सुन्दर पत्र भी हमारे संग्रह में हैं, जिन्हें अन्य लेख में प्रकाशित किया जायगा।

प्रसंगवश जिनका पत्र व्यवहार यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है उनका संक्षिप्त परिचय भी यहाँ दे देना आवश्यक समझता हूं। इनमें से महाराजा अनूपसिंह जी तो

१ देखें हमारा युग प्रधान जिनचंद्रसूरि नामक ग्रन्थ।

२ जिनका विशेष परिचय ओझाजी के इतिहास माधवकृष्ण शर्मा के लेखों में एवं मेरा महाराजा अनूप सिंह जी के आश्रित हिन्दी कवि लेख में दिया गया है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

प्रसिद्ध व्यक्ति हैं अतः उनके जन्म संवतादि दो-चार बातों का ही उल्लेख कर जिनचन्द्र-सूरि का ज्ञात वृत्तान्त दिया जा रहा।

१ महाराजा अनूप सिंह– "जय जंगलधर बादशाहै विरुद प्राप्त महाराजा कर्ण सिंह के ज्येष्ठ पुत्र थे। सं० १६९५ चैत्र सुदि ६ को आपका जन्म हुआ व सं० १७२६ में ये गद्दी नशीन हुए। बादशाह की ओर से आप कई युद्धों में बड़ी वीरता पूर्वक लड़े थे अतः सं० १७३२ में बादशाह ने प्रसन्न होकर इन्हें "महाराजा" का खिताब दिया था। उदयपुर के महाराना राजसिंह जिन्होंने राजसमुद्र नामक विशाल तालाब बनवाया था, के आप बहनोई थे। स्वरूप सिंह, सुजाण सिंह आदि आपके ५ पुत्र थे। सं० १७५५ के ज्येष्ठ सुदि ९ रविवार को आइणी में आपका देहान्त हुआ। आपका विद्यानुराग सर्वत्र प्रसिद्ध ही है। विशेष जानने के लिये स्व० ओझाजी का बीकानेर राजा का इतिहास ग्रन्थ देखना चाहिये।

२ आचार्य जिनचन्द्र सूरि—बीकानेर निवासी गणधर चौपड़ा गोत्रीय सहसमल (यासहंसकरन) की पत्नी रांजलहे (सुपीयारडे) के आप पुत्र थे। सं० १६९५ का० व० ६ को सेरुणा (संभवतः ननिहाल) में आपका जन्म हुआ था। आपका जन्म नाम हेमराज था। १० वर्ष की लघुवय में ही जिनरत्नसूरि के पास सं० १७०५ जठ सुदि ५ को जैसलमेर में आपने दीक्षा ग्रहण की। सं० १७११ में जिनरत्नसूरि का आगरे में स्वर्गवास हो जाने पर राजनगर में उनके आदेशानुसार आपको गच्छनायक पद श्रावण सुदि १० को प्रदान किया गया। पदोत्सव नाहटा गोत्रीय राजमल पुत्र जयमल तेजसी, जैतसी व उनकी भार्या कस्तूर बाई ने बड़े समारोह पूर्वक किया। सूरिमंत्र प्रदान बड़गच्छीय सवदेवसूरि ने किया। आप बड़े त्यागी व वैरागी थे। गच्छ के यतियों में शिथिलाचार बढ़ते देख आपने सं० १७१८ आश्विन शुक्ला १० सोमवार को बीकानेर में १४ बोलों का एक व्यवस्था पत्र जारी किया जिसकी नकल हमारे संग्रह में है। सं० १७३५ के आषाढ़ सुदी ८ को खंभात में आपने बीस स्थानक तप का आराधन भी प्रारंभ किया था। छाजहडशाह मोहनदास के संघ के साथ सं० १७१२ में शत्रुंजय तीर्थ यात्रा की व मंडीवर में सं० मोहनदास कारित ऋषभादि चतुर्विंशति जिन बिम्बों की प्रतिष्ठा की। दूतवास में नाहटा सा. जयमल्ल के बनवाये हुए मन्दिर की भी प्रतिष्ठा की। आपके दिये हुए कई पर्युषण के समाचार व आदेश पत्र हमारे संग्रह में है। एक कवित्त से आपने पंचनदी की साधना भी की विदित होता है। आपके रचित कई स्तवन (गौडीस्तवन सं० १७२२ छन्नू जिनस्तवन सं० १७४३) प्राप्त हैं। अनूप सिंह जी के किये हुए पत्र व्यवहार से आपसे उनका अच्छा सम्बन्ध

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

रहा प्रमाणित होता है। सं० १७२१ मा० व० ५ को परत के पारख अखई पुत्र बीसडास, अयाइदास, सूरदास के संघ सह गौडी, आबू तीर्थों की यात्रा की। सं० १७३१ में जोधपुर के संघवी मनोहर दास व भाई आसकरण के साथ शत्रुञ्जय तीर्थ की यात्रा की। सं० १७६३ में सूरत में अपने पट्ट पर जिनसुखसूरि को प्रतिष्ठित कर आप स्वर्ग सिधारे

बीकानेर के महराजा अनूप सिंह जी के जिनचंद्रसूरि जी को दिये हुए पत्र

स्वस्तिश्रीमहाराजाधिराजमहाराज[१]श्रीमदनूपसिंहप्रभुवर्याणां श्रीमद्जिनदेव भजनावाप्तसकलजिनेंद्रज्ञानवैभवेषुनृणीकृतजगत्सुसकलजैनाभिवंदितचरणेषु श्रीपूज्यजिनचंद्रसूरिषु वंदनाततिं निवेदकमदः पत्र विशेषस्तु पूर्वं सत्र.....भवदीयः कश्चित् यतिवरः अस्माकं सार्थेस्थितः इदानीमत्रभवदीयः कोपिनास्ति भवद्भिरपितूष्णीं स्थितमस्तितत्केमिति अतः पर एकः उपाध्यायः पांचाख्यः अथवा जयेतसी एतयोर्मध्ये यः कश्चिदायाति सत्वरं प्रेषणीयः चातुर्मास्यं अत्रागत्य करोति तथा विधेयं अस्मिन्नर्थे विलंबो न विधेयः किमधिकं।

मिती पोष शु० ८

१ श्री लक्ष्मीनारायण जी

स्वस्तिश्रीमन्महाराधिराजमहाराजश्रीमदनूपसिंहप्रभु-
वर्याणं श्रीमत्सकलकार्यकरणनिपुणतापराङ्मुखवैराग्य
पवमानसंदोहवशंवदवशीकरणसंज्ञवैराग्यभोग्यकैवल्येषु
विषमविषयदोषदर्शनदूषितप्रपंचरचनाचुलुकीकरण-
कुंभसंभवविभवेषु समस्तविद्याविद्योतमानविग्रहेषु
श्रीमद्भट्टारकजिनचंद्रसूरिषु वंदना प्रणाम सूचकोयं जांबिकः
शमिह श्रीरमेशकरुणाकटाक्षसंदोहैः
विशेषस्तु माला श्रीमद्भिः प्रेषिता सा ऽस्मत्करगता समजनि
अन्यदपि यत्समीचीनं वस्तु अस्मद्योग्यंभवतिचेदवश्यं प्रेषणीयं।

१ जयतसी पुण्यकलश के शिष्य थे उनके रचित १ अमरसेन वयरसेन चौपई सं० १७१७ दीवाली जैसलमेर २ कयवन्ना रास सं० १७२१ बीकानेर ३ दशवैकालिक गीत सं० १७०७ बीकानेर ४ दशश्रावक गीत ५ उत्तराध्ययन गीत सं० १७०७, ६ चतुर्विधसंघ नाममाला ७ चौबीस जिन पूजा जैसलमेर पार्श्व बृहद्स्तवन पार्श्वनाथ छंदादि उपलब्ध हैं।

पत्र का समय—इसमें माला प्राप्ति का निर्देश है। आगे दिये जाने सं० १७४७ के पत्र में सूरिजी ने इसका उल्लेख किया है अतः इसका लेखन संवत १७४७ में हुआ सिद्ध होता है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

अन्यच्च श्रीमतां प्रावरणार्थं वस्त्रं दापितमस्तितद् ग्राह्यं किं च इंद्रभाणमुद्दिश्यभवद्विषयिकोदंताः लिखिताः संति सोप्यस्मत्पत्रानुसारेण श्रीमतां समाधानं करिष्यति श्रीमतां महत्वं मानोन्नतिञ्च विधास्यति ॥ तथाच श्रीमदीयः कश्चित्कार्यविशेषोज्ञाप्यः। श्रा० वदि ३

सूरिजी के महराजा को दिये हुए पत्रों की नकल

.....मंदिरेषु। सशक्तिशक्तित्रयषड् गुणालंकृतसप्तांगप्राज्यराज्यैश्वर्य्यजितपुरंदरेषु। सकल हिन्दूकराजमंडलमौलिकोटीरेषु। महाराजाधिराजमहाराज श्रीमच्छ्रीअनूपसिंहराजेश्वरेषु। श्रीविक्रमपुरस्थैरिष्टदेवस्मरणरतैः भट्टारकश्रीजिनचंद्रसूरिभिः सदाधर्मलाभशुभाशीर्वचननिवेदकं प्रेष्यते पत्रमदशमत्रश्रीजिनदेवप्रसादात्। श्रीमतं च सततं तदेव प्रवर्द्धमानं समभिलष्यते। अन्यच्च श्रीमद्भिः सविवेकं सधर्मरागंचास्मांस्वकीय यतिवरान्विज्ञाय द्वित्राणि परवानाख्य पत्राणि प्रेषितानि तदुचितं प्राचीनसमीचीनपद्धतिविदां श्रीमहाराजानां। वयमपियौष्माकीणा यतयः स्मः। इष्टदेवस्मरणेंतःकरण शुद्धया श्रीमत्सुशुभाशिषं कुर्वतेः सदा वर्त्तामहे। अन्यच्च। प्राक्कोठारी नैणसी[1] पत्रेये उदंता लेखितस्तेषां प्रत्युत्तरं सविस्तरं तस्यै च पत्राद् ज्ञातं भविष्यति। एकस्तुमधुकरः शुद्ध गरुडोद्गार जातीयो विधिपत्रयुतः प्रेषितो भूत्सतु मागान्तरालेजंघालेन समं विलीनः। तदनु पुनरेकोस्मत्पारंपर्य्यागतो-

१ सं० १७३६ अषाढ वदि बुधवार को बीकानेर में (ख० लालचंद लाभवर्द्धन) रचित लीलावती-गणित चौपई आपके पुत्र जयतसी के लिये रची गई है उसमें आपके राज्याधिकारी होने का उल्लेख इस प्रकार है:—

"बीकानेर बड़ौनगुर चहुँ दिसि में परसिद्ध।
घर घर धण कंचण प्रबल घर घर ऋद्धि समृद्धि।१५।
× × ×
राजै तिहां राजा बड़ो श्री अनूपसिंह भूप।
राष्ट्रवंश नृप करण श्रुत सुंदर रूप अनूप।१६।
अधिकारी तसु अधिक मति कोठारी कुलमाण।
नाम भलो श्रीनैणसी गंजै अरि गज माण।२०।
नृप मन शुद्ध भया कहै, बहुत बधा है मान।
हाकिम हुजदाशं सिरै प्रसिद्ध गिणो परधान।२१।
लघु अंगज श्री जैतसी मनमथ रूप वखाण।
गुण चतुराई गणित विधि शास्त्र अर्थ सवजाण।२२।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

मणिको मोहनबल्ली संज्ञको लाजभर्य्यादवल्लीत्यपरनामा। अन्यश्यामवल्ल्यादिभ्यो भिन्नजातीयः प्रेषितोस्ति स सयत्नम् प्राग्लिखितविध्यनुसारेण धार्य्यः॥ मालाप्राप्तिर्लिखिता तु ज्ञाता। अन्यदपि यत्किंचत् श्रीमदर्हं वस्तुजातं प्राप्स्यामस्तन्मोचयिष्यामः अन्यच्च श्रीमदनुज्ञातान्प्राज्ञ यतिनं प्रेषयिष्यामश्चतुर्मासकोत्तरे॥ स्वकीयेस्मिन्देशे विराजमानानं श्रीमतां प्रत्यक्षमाशिषं पद्म इति ध्यान विधौध्यायामः। यथा श्रीमत्पितृपितामहैरस्मदीयगुर्व्वादीनां महत्वं चक्रे तथा भवंतोप्यस्मत्सु सुदृष्टिमंतो भवंतु। किंबहुज्ञेषु बहुलेख्या। सं० १७४७ आसू सुदि ३ दिने सोमे॥

॥ श्री ॥

स्वस्तिश्रीमतिसगरदुर्गे। श्रीमत्प्रचंडदोर्दंडोज्जनितारिभूपालनिकरेष्। प्रबलपुण्यप्रकारसत्फलफलितप्रतिदिनमनोरथभरेष्। निस्तंद्रचंद्रमंडलसमुज्वलयशः सुधाधवलितत्रिश्वमंदिरेषु। सशक्तिशक्तित्रयषड्गुणालंकृतसप्तांगप्राज्यराज्यैश्वर्य्यजिनपुरंदरेसुमहाराजाधिराजश्रीमच्छ्री अनूपसिंहराजेश्वरेषु। श्रीनवहर पुरस्थै.....भर्ट्टारक श्रीजिनचंद्रसूरिभिः सदाधर्मलाभशुभाशीर्वचन निवेदकं प्रेष्यते पत्रमदः। शमत्र श्रीजिनदेवप्रसादात्। श्रीमतं च सततं तदेव प्रवर्द्धमानं समभिलष्यते। अन्यच्च श्रीमतं पत्रमेकं कार्तिकवदिपंचमी लिखितं। माघमासे समेयायावगतास्समेपि श्रेय उदंताः। अन्यच्च श्रीमद्भिरानायितं देहनं[1] मलिनिवारकं रक्षाविधानं। तत्सम्यक्शास्त्रोक्तपश्चरणसद्विधिकरणपूर्वकं श्रीकालकुंडदंडस्वामिनामकं महायंत्रं विधाय। सा० कर्मसीहस्तेन। मुक्तमस्ति। तत सयत्नं सुवर्णवेष्टितं कृत्वा। हृदि दक्षिणभुजेवाधार्य्यं प्रतिदिनं दंतधावनावसरे। तत्प्रक्षालनजलेन। स्ववपुषिछटाक्षेपः कार्य्यः सर्वशुभं भावि। अन्यच्च वयमपि सर्वदा श्रीमतां शुभचिंतकास्संतः स्मरणावसरे प्रतिदिनं श्रीमद् विशेषतो जापं कुर्व्वाणाः स्मः। प्रारंपर्य्यविद्भिः श्रीमद्भिरस्मांसुसंप्रीतिरीतिः परिपालनीया अन्यच्च। श्रीमतां सन्निधौवणइस उदयतिलकः[2] प्रेषितोऽस्ति। सोपितत्र प्राप्तः सन्सर्वोदंत जातं निवेदयिष्यतीति किंबहुना। अन्यच्च। अस्मिन्नब्दे श्रीमद्भिरपि सर्वैः पुकारैः सयत्नमस्थेयमिति सं० १७५० चैत्रवदि ३ दिने। आगमिष्यच्चातुर्मास्यं वयं श्रीरिणी पुर्य्या स्थास्यामं।

१ इनके शिष्य अमरविदजयजी अच्छे कवि हुए जिनके अनेक रासादि उपलब्ध हैं आपकी परम्परा में यशस्वी यति पालचंद जी है, राछडी चौक में इनका उपाश्रय है जिसमें हस्त लिखित ग्रन्थ बहुत हैं।

२ पत्र का आगे का हिस्सा कट कर कहीं अलग पड़ गया है अतः अधूरा ही प्राप्त है। इनमें पुत्रधन प्राप्ति का उल्लेख है और महाराजा के ज्येष्ठ पुत्र का जन्म सं० १७४६ में हुआ था अतः यह इसके बाद का निश्चित है। यदि इसमें द्वितीय तृतीय पुत्र के जन्म का हर्ष व्यक्त किया हो तो इससे २–४ वर्ष और भी बाद का हो सकता है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

॥ श्री ॥

स्वस्ति श्रीयुक्त प्रचंडदोर्दंडोर्ज्जनिर्ज्जि—तारिभूपालनिकरेषु। प्रबल पुण्यप्रकारसत्फल-फलितप्रतिदिनमनोरथभरेषु। निस्तंद्रचन्द्रमंडलसमुज्वलयशःसुधाधवलितविश्वमंदिरेषु। सशक्तिशक्तित्रयषड्गुणालंकृतसप्तांगप्राज्यराज्यैश्वर्य्यजिनपुरंदरेषु। महाराजाधिराज महाराजश्रीअनूपसिंहराजेश्वरेषु। श्रीविक्रमपुरस्थैः स्वस्थचित्तजिनदेवस्मरणरतैः श्रीजिनचन्द्रसूरिभिः सदाधर्मलाभशुभाशीर्वादनिवेदकं लिख्यते पत्रमदोशममत्र श्रीजिन-देवप्रसादतः श्रीमंतां च सततं सदेव वर्द्धमानं समभिलष्यते। श्रीमतां पुत्ररत्न प्राप्ति[1] श्रुत्वा जहर्षुः सर्वे जनपदजनावयमपि विशेषतो हर्षोत्कर्षं प्राप्ताः स्मः। अन्यच्च श्रीमद्भिः सविवेकं सधर्म्मरागं चास्मान्स्वकीय यतिवरान्विज्ञाय वयमपियौष्माकीणा यतयः स्मः परवानाख्यपत्रं प्रेषितं तदुचितं भवतां 'श्रीमहाराजानां प्राचीनसमीचीनपद्धतिविदां' स्वेष्टदेवस्मरणैंतःकरणशुद्या श्रीमत्सुशुभाशिषं कुर्व्वंतोवर्त्तामहे। अन्यच्च कोठारी नैणसी पत्रेये उदंता लेखितास्तेषां प्रत्युत्तरं सविस्तरं तस्यैव पत्राज्ञेयं। एकस्तु मधुकरः प्रेषितोस्ति ससयत्नं.....

॥ श्रीः ॥

॥ स्वस्ति श्री दीव्यत्प्रतापदिनेंद्रेषु। सकलनरराजसमाजसुरेंद्रेषु। गुणागुणहिताहित-न्यायान्यायभृत्योग्यायोग्यनवरत्ननिकरपरीक्षकेषु। सन्मार्गशुभाचारस्वपरजनसुदृष्टि-समीक्षकेषु। समस्तमहाराजयोग्योपमानविराजयानेषु। महाराजाधिराजमहाराज श्रीअनूपसिंहसार्व्वभौमेषु (स्वेष्टदेवता-स्मरणरतैः) म० श्रीजिनचन्द्रसूरिभिः सदा धर्मलाभशुभाशीर्वादनिवेदकं लिख्यते पत्रमदः। कुशलमत्र श्रीजिनदेवप्रसत्तैः॥ श्रीमतां च सततं तदेववर्धमानं समभिलष्यते। तथा श्रीमतां वचसाकुमारत्रय 'श्रेयोर्थं रक्षाविधानत्रयंप्राक्प्रेषितमस्ति। पुनः श्रीमद्भिरस्मद्महत्त्वमुद्दिश्य चीनांशुकं प्रदापितं तद-स्माभिरदमंम्जोकः गृहीतं विद्यते। युष्मदाहूताविद्वद्यतयः प्रेषिताः संति ते तत्रसमेता-भविष्यंति समेष्यंति वा। विशेषस्तु श्रीमतांसद्भाग्यवतां समस्तं प्रशस्तमेवास्ति सर्वदा तथापि युष्मच्छ्रयोतपोर्थनियमविधिनास्माभिर्लक्षजापः प्रारब्धोस्ति तेनाशीर्वादं कुर्म्मः। तथैकं हितावहं वाक्यं ज्ञेयं। अन्यजनपदेषु पवनप्राबल्यात्सर्वतीर्थलोपः संजातास्ति श्रीमन्मंडलेयुष्मत्पुण्यप्रतापतो। देवार्च्चादिरूपो हिंदूकधर्म्मः सोत्साहं प्रवर्त्तते साम्प्रतं त्वत्र ढुंढोयाख्यायतयोमुग्धजनविप्रतारका देवार्च्चां दानं च सर्वप्राचीनमार्गंच नि-षेधयंति तन्नचारु। तन्निवारणमेवश्रेयः कारणमितिधार्य्यम्।

१ इसमें महाराजा के ३ पुत्रों का उल्लेख होने से यह पत्र सं० १७४८-५० के लगभग का है

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

बृहत्तर भारत में जैन संस्कृति के प्रभाव की खोज

[ले० श्रीयुत बा० ज्योतिप्रसाद जैन, एम० ए०, एल-एल० बी०]

गत कई शताब्दियों के विश्व इतिहास में हम यह पढ़ते और सुनते आये हैं कि यूरोप के विभिन्न देशों ने, विशेषकर अंग्रेज जाति ने किस प्रकार सुदूर देशों में अपने उपनिवेश स्थापित करके, वहाँ अपनी संस्कृति का बीजारोपण और विकास करके किस प्रकार अपने राष्ट्र को बृहत्तर रूप दिया और अपनी सभ्यता से संसार को प्रभावित किया। किन्तु हममें से थोड़े ही इस बात को जानते हैं कि ऐतिहासिक काल में भी एक समय था जब भारतवर्ष की सभ्यता अपने चरम शिखर पर थी, समस्त संसार उससे प्रभावित था और वह संसार का शिरोमणि देश था। उस युग में स्वयं भारतीयों ने भारत से बाहिर जाकर अनेक उपनिवेश बसाये थे, उनमें अपनी देशीय संस्कृति का बीजवपन किया, सिञ्चन किया, विकास किया और इस प्रकार एक विशाल बृहत्तर भारत का निर्माण किया था। उक्त निर्माण में राज्य और शक्ति के आकांक्षी साहसी वीरों, और धन के इच्छुक उत्साही वणिकों ने तो भाग लिया ही था, संस्कृति एवं धर्म प्रचार के अभिलाषी विद्वानों तथा धर्माचार्यों ने भी अत्यधिक महत्वपूर्ण योगदान किया था। इन प्रवासी धर्मप्रचारकों में अभीतक बौद्ध एवं ब्राह्मण धर्मियों के ही नाम के उल्लेख प्रायःकर मिलते हैं। जैनदृष्टि से इस दिशा में अभीतक प्रायः कुछ भी कार्य नहीं हुआ है।

वास्तव में यह असंभव है कि समकालीन जैन प्रचारक इस संबंध में सर्वथा निष्क्रिय रहे हों, विशेषकर जबकि उनका धर्म उस समय प्रचलित किसी भी अन्य धर्म की अपेक्षा किसी भी दिशा और अंश में भी हीन नहीं था। भारत के बाहर जैन धर्म के प्रचार और जैनधर्माचार्यों के गमनागमन के अनेक उल्लेख भी मिलते हैं। नैपाल और तिब्बत में ही नहीं चीन महादेश में भी जैनधर्म का प्रकाश पहुँचा था। अफगानिस्तान, कपिशा एवं मध्य एशिया में ७ वीं शताब्दी में जैनधर्म के विद्यमान होने का चाक्षुष साक्ष्य तो चानी यात्री हुएनत्सांग (६१८–६४४ ई०) ही प्रस्तुत करता है। यूनान, रोम और मिश्र पर्यन्त भी जैन श्रमण प्राचीन काल में गये थे इस बात के फुटकर प्रमाण उपलब्ध हैं। लंका में जैनधर्म का प्रचार चौथी, पांचवीं शताब्दी ईस्वी पूर्व में था तथा आठवीं शताब्दी ईस्वी में भी वहाँ जैनों की अच्छी बस्ती थी, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

परन्तु ब्रह्मा, श्याम, मलाया प्रायद्वीप, तथा पूर्वी द्वीप समूह के जावा सुमात्रा, बोर्नियों, बालि आदि द्वीपों में और अफ्रीका के पूर्वी तट के प्रदेशों में जैन संस्कृति का क्या कुछ प्रभाव पहुँचा, इस दिशा में अभी कुछ अध्ययन नहीं हो पाया। उक्त प्रदेशों से सम्बद्ध इतिहास, पुरातत्व, साहित्य, संस्कृति आदि का अध्ययन करने वाले यूरोपियन विद्वानों ने, जिनमें फ्रान्सीसी

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

विद्वानों का ही विशेष भाग है, अथवा उनका अनुसरण करने वाले भारतीय पुराविदों ने भी केवल बौद्ध एवं हिन्दू धर्मों की ही दृष्टि से उपरोक्त अध्ययन किये और अपने निष्कर्ष निकाले। यद्यपि उक्त अध्ययन के प्रख्यात विशेषज्ञ प्रो० सिलवनलेवी के अनुसार जावा आदि में जैन धर्म के प्रभाव के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं, इस दिशा में प्रायः किसी भी विद्वान ने अभीतक कोई स्वतन्त्र अथवा विशिष्ट अन्वेषण नहीं किया।

किन्तु जब हम यह देखते हैं कि बृहत्तर भारत का यह निर्माण अर्थात् भारत के निकटस्थ इन देशों एवं द्वीपादिकों में भारतीय संस्कृति का प्रवेश, प्रभाव एवं प्रसार विशेष रूप से सन् ईस्वी के प्रथम सहस्राब्द में हुआ और यह वह समय था जबकि स्वयं भारतवर्ष में बौद्ध धर्म शीघ्रता के साथ नाम शेष होता जा रहा था, तथा जैनधर्म कर्णाटक, महाराष्ट्र और तुलु एवं तामिल देशों में ही नहीं वरन् आन्ध्र, कलिंग, गुजरात और मध्य भारत में भी, अर्थात् भारतवर्ष के लगभग तीन चौथई भाग में अपने सर्वतोमुखी चरमोत्कर्ष को प्राप्त हो रहा था जबकि कई महान सम्राट्, छोटे बड़े अनेक नरेश, अनगिनत सामन्त, सर्दार, सेनानी और योद्धा थल और जल के व्यापारी, धनिक श्रेष्ठि और चतुर शिल्पी, तथा विभिन्न वर्गीय बहुभाग जनसाधारण भी उनके अनुयायी थे, अनेक महान विद्यापीठों से देश की अधिकांशतः लोक शिक्षा की वह व्यवस्था कर रहा था, असंख्य निर्ग्रन्थ श्रमण संघ तथा अनेक उद्भट विद्वान् एवं दिग्गज आचार्य धर्म प्रचार, लोककल्याण, साहित्य-सृजन आदि के द्वारा सांस्कृतिक अभिवृद्धि कर रहे थे, तो बड़ा आश्चर्य होता है कि क्या ऐसे समय में भी जैनधर्म ने उसी समय में होने वाले बृहत्तर भारत के निर्माण में और उसकी संस्कृति को प्रभावित करने में कोई भी भाग नहीं लिया? प्राचीन जैन कथा साहित्य, पुराण और चरित्र ग्रन्थों में जैनधर्मी साहसी वीरों और वणिकों के समुद्र यात्रा करके सुदूरस्थ द्वीप द्वीपान्तरों को आने जाने के उल्लेख भरे पड़े हैं। उनमें जिन द्वीपों के नाम और वर्णन आये हैं इनमें से अनेकों को थोड़ा प्रयास करके आज भी चीन्हा जा सकता है। इन यात्रा विवरणों में अनेक ऐतिहासिक भी हो सकते हैं। जैन कवि धनपाल रचित तिलकमंजरी में वर्णित एक ऐसे ही समुद्री आक्रमण को प्रसिद्ध पुरातत्त्वविद डा० मोतीचन्द्र ने एक ऐतिहासिक घटना का सजीव वर्णन अनुमान किया है। इन द्वीपादिकों के निवासियों को प्राचीन जैन पुराणादि ग्रन्थों में विद्याधर जाति का माना है और वहाँ की प्राचीन अनुश्रुतियें भी इस विद्याधर जाति को नाग, भूत, यक्ष, गंधर्व आदि उपजातियों के साथ उक्त प्रदेशों का मूल सम्बन्ध सिद्ध करती हैं।

अभी हाल में ही बृहत्तर भारत सम्बन्धी कुछ साहित्य का अध्ययन कर रहा था, विशेष रूप से डा० विजनराज चट्टोपाध्याय की महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'कम्बोज में भारतीय संस्कृति का प्रभाव' (अंग्रेजी) का; उससे पता चला कि कई ऐसे संकेत दण्ड हैं जिनके द्वारा अन्वेषण करने से कम्बोज,

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

श्री विजय (सुमात्रा), जावा आदि में जैन संस्कृति के प्रभाव को खोजने का सफल प्रयत्न किया जा सकता है, यथा—

(१) कम्बोज के सर्व प्रथम भारतीय राज्य वंश के मूल में नागनागि सम्बन्ध होना, जिनका कि बहुल वर्णन प्राचीन जैन साहित्य में मिलता है।

(२) तद्देशीय अनुश्रुति उस वंश का संस्थापक मूल पुरुष कौण्डिन्य नामक ब्राह्मण को बताती है, जो प्रथम शती ई० के लगभग भारतवर्ष से आया था, ४ थी शताब्दी के लगभग एक दूसरा कौण्डिन्य वहाँ पहुँचा और उसने उक्त देश का पूर्णतः भारतीयकरण करा दिया। कदंब आदि नरेशों के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि दक्षिण भारत के पूर्वी भाग में प्राचीन काल में कौण्डिन्य एक प्रसिद्ध गोत्र था। उस काल में यह भाग जैन धर्म से अत्यधिक प्रभावित था। जैन वैद्यर्षि उग्रादित्य ने अपने कल्याणकारक नामक प्रसिद्ध वैद्यक ग्रन्थ के हिताहिताध्याय में सम्राट् अमोघ वर्ष प्रथम (८१५–८७७ ई०) की राज सभा में मांसहार निषेध पर जो महत्त्वपूर्ण व्याख्यान दिया था, उसमें इन्होंने अपने पूर्ववर्ती उन दयालु आर्हत वैद्यर्षियों में जो खान-पान में ही नहीं; औषधि आदि में भी मांसादिक का प्रयोग निषिद्ध मानते थे, कौण्डिन्य का नाम सादर स्मरण किया है। और ब्रह्मसूरि ने अपने 'प्रतिष्ठा तिलक' (१३ वीं शती ई०) में अपने पिता पार्श्व पंडित (लगभग १२०० ई०) के पाण्ड्य देश से अपने जिन गोत्रज बन्धुओं के साथ जैनधर्मावलम्बी होय्सल राज्य में आकर बसने का उल्लेख किया है उनमें कौण्डिनि गोत्र का भी नाम है।

(३) इन भारतीय उपनिवेशों में मद्यमांसादि के आहार पान का प्रचार नहीं था, वहाँ के निवासी प्रधानतः शाकाहारादिक के जो थोड़े से उल्लेख मिलते हैं उनमें भी पशुबलि देना प्रायः करके नहीं पाया जाता।

(४) इन देशों में 'जिन' और बुद्ध शब्द पर्यायवाची माने जाते हैं।

(५) वहाँ से प्राप्त प्रचीन बुद्धमूर्तियाँ भारतीय बुद्ध मूर्तियों से कुछ भिन्न हैं और तीर्थङ्कर मूर्तियों के साथ विलक्षण सादृश्य रखती हैं। डा० चटर्जी को उपरोक्त पुस्तक के मुख्य पृष्ठ पर दिये चित्र में जो तथाकथित बुद्ध मूर्त्ति है वह सुखासन से तिष्ठी ध्यान मुद्रा, नासाग्र दृष्टि, गोद में बाँई हथेली पर दाँयी हथेली— ठीक अर्हंत प्रतिमाओं की नाईं रखी है। कोई वस्त्र यज्ञोपवीत भी नहीं है वह नागावलि पर आसीन है जिसका फण संभवतः पीठ के पीछे से होकर शिर पर छत्र किये हुए था— यह उपरिम भाग खंडित है।

(६) लगभग नवीं शताब्दी के एक शिलालेख में भगवान पार्श्वनाथ का उल्लेख है, साथ ही जैनग्रन्थ कल्याणकारक का भी जिसे कि लोक कल्याण करने वाला बताया है।

(७) ६ ठी व सातवीं शती के एक शिलालेख में 'शिवपद' का विचित्र एवं कुछ अलङ्कारिक

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

वर्णन है। इस शब्द और इनके वर्णन में जैन संस्कृति की छाप स्पष्ट प्रतीत होती है।

(८) ६ ठी ७ वीं शताब्दी के कुछ शिलालेखों का मङ्गलाचरण एक निराले प्रकार का अध्यात्म पूरित है। उनमें वेदान्त की झलक है। अस्तु वेदान्त के प्रणेता शंकराचार्य के जन्म से लगभग एक शताब्दी पूर्व के इन अभिलेखों में वेदान्त के बजाय जैन अध्यात्म की छाप अधिक सफलता पूर्वक खोजी जा सकती है।

(९) उक्त प्रदेशों में रामायण और महाभारत का बहुल प्रचार और इन कथानकों का जो रूप प्रचलित है उसका जैन रूप के साथ अधिक सादृश्य।

(१०) वहाँ के प्राचीन मंदिरादिकों के द्वारों में उत्कीर्ण प्रस्ताङ्कों में जैन पुराणों में वर्णित दृश्यावलियों की खोज।

(११) वहाँ के शिल्प, स्थापत्य एवं मूर्त्तिकला पर जैन कला का प्रभाव।

(१२) वहाँ की प्रचलित लोक कथाओं की जैन साहित्य में खोज।

(१३) हिन्दू संस्कृति से अनोखे स्त्री जाति के विशिष्ट अधिकारों में जैन संस्कृति का प्रभाव।

(१४) पाटलिपुत्र के मुरुण्ड वंशी नरेशों का उल्लेख, जिनका वर्णन जैन साहित्य में ही विशेष रूप से आया है।

(१५) उन देशों में प्रचलित वर्ष का प्रारंभ कार्तिक मास से होता है, जो कि महावीर निर्वाण के साथ प्रचलित जैन मान्यता ही है।

(१६) दीपावलि का उत्सव, उस समय रोशनी आतिशबाजी आदि का होना, तथा रथयात्रा, कलशाभिषेक आदि अन्य पूजोत्सवों का मनाया जाना।

(१७) उन देशों में बहुमान्य तीन प्राचीन वर्गों में बौद्ध भिक्षुओं तथा हिन्दू, शैवों के अतिरिक्त जिन 'पंथी' या पंडितों का उल्लेख है; जो बड़े विद्वान, व्यवहार कुशल तथा उच्च पदों पर आसीन होते थे, क्या जैन थे इत्यादि।

ये कतिपय दिशा निर्देश हैं। प्रस्तुत लेख का प्रयोजन कोई खोज शोध अनुसंधानादि न हो कर जैनाध्ययन की इस महत्त्वपूर्ण एवं उपेक्षित शाखा की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित करना मात्र ही है। इस सम्बन्ध में अपने अध्ययन के परिणाम स्वरूप विस्तृत एवं प्रामाणिक प्रकाश फिर कभी डाला जायगा।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जैनमूर्त्तियों की प्राचीनता—ऐतिहासिक विवेचन

यह कहना कठिन है कि जैनियों की मूर्तियाँ कितनी प्राचीन हैं। स्टीवेन्सन के अनुसार चौथी शताब्दी पूर्वेसा में किसी जैन नेता प्रभव के नेतृत्व में उपकेशपट्टन में भगवान महावीर की एक मूर्ति स्थापित हुई थी। पुरातत्त्व के प्रमाणों से भी उस समय के लगभग जैनियों में मूर्ति स्थापित करने का प्रचार सिद्ध होता है। हाथीगुम्फा के लेखों में जैन नृपति खारवेल द्वारा पाटलीपुत्र से उस जैन-मूर्ति के लौटाने का उल्लेख है जिसे नन्दराज कलिंग से ले गया था। इससे चौथी शताब्दी पूर्वेसा में नन्द-नृपतियों का जैन धर्मावलंबी होना, कलिंग का जैनधर्म का एक प्राचीन केन्द्र होना तथा पाटलीपुत्र में तीर्थंकरों की मूर्तियों का निर्माण होना विदित होता है। लोहानीपुर पटना से प्राप्त पटना म्यूज़ियम की दो भग्न दिगम्बर मूर्तियों में से एक की पालिश में मौर्य्यकाल की विशेषताएँ हैं और दूसरी की निर्माण-कला दूसरी सदी पूर्वेसा से मिलती है। संभव है कि वे दूसरी और तीसरी सदी पूर्वेसा की जैन-मूर्तियों के नमूने हों। अर्थशास्त्र के लेखक ने भी जयंत, विजयंत और सर्वार्थसिद्धि में जैन देवताओं का उल्लेख किया है।

अनन्त, रानी और गणेशगुंफा इत्यादि उड़ीसा की अधिकांश गुफाएँ दूसरी सदी पूर्वेसा में खोदी गयी थीं। अनन्त गुफा की दीवाल पर त्रिशूल और स्वस्तिक के चिह्न तथा आंगन में जैन-मूर्तियाँ मिलती हैं। रानीगुफा की दीवालों पर जैन धार्मिक-उत्सवों के दृश्य अंकित मिलते हैं। इनसे ईस्वी सन् के पूर्व जैन-मूर्तियों का निर्माण सिद्ध हो जाता है।

उपर्युक्त काल में मथुरा जैनियों का प्रसिद्ध स्थान था। वहाँ की खुदाइयों में अधिकतर दूसरी सदी पूर्वेसा से तीसरी शताब्दी तक के जैन स्तूप, मन्दिर और पत्थर मिले हैं। मथुरा के पत्थरों से हमें जैन-मूर्तियों के विषय में अध्ययन के लिए बहुत कुछ सामग्रियाँ मिल जाती हैं। इनमें हमें ऋषभदेव से लेकर प्रायः सभी तीर्थंकर मिलते हैं। इससे यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि उस समय तक जैनियों में चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ प्रचलित हो चुकी थीं।

तीर्थंकरों की मूर्तियाँ विशुद्धतः भारतीय भावना की प्रतीक हैं। इनमें किसी विदेशी प्रभाव का आभास नहीं मिलता। बुद्ध और उनकी मूर्तियों से पृथक् करने वाली जैन-मूर्तियों की प्रधान विशेषता उनकी नग्नता है। परन्तु यह केवल दिगंबर मूर्तियों में होती है; श्वेताम्बर अपनी मूर्तियों को वस्त्रों से विभूषित करते हैं। जिन-मूर्तियों की

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

हथेलियों और तलवों पर ही नहीं छाती पर उनके चिह्न अंकित रहते हैं। अधिकतर बुद्ध-मूर्तियों की तरह उनके बाल भी छोटे छोटे, घुँघराले और दाहिनी ओर मुड़े हुए पेचदार होते हैं। परन्तु कुछ पहले की मूर्तियों के बाल लच्छों में कंधों पर लटके रहते हैं। पहले की मूर्तियों में बुद्ध के समान उष्णीव और ऊर्ण नहीं होते थे, परन्तु मध्य काल के अन्त से उनके सिर पर एक प्रकार का जूड़ा मिलता है।

जैन लेखों और साहित्य में सर्वतोभद्रिका प्रतिमा के नाम से प्रसिद्ध चतुर्मुखी प्रतिमाओं का उस काल के मथुरा में पाया जाना रोचक है। मथुरा के कंकाली टीले पर दो चतुर्मुखी प्रतिमाएँ मिली हैं। एक दिगम्बर प्रतिमा पर कोई चिह्न नहीं है। उसके लेख से विदित होता है कि वह मुनि जयभूति की प्रशिष्या वसुला के कहने पर किसी वेणी नामक सेठ की प्रथम पत्नी कुमारमिता के द्वारा दान की गयी थी। लिपि के आधार पर यह कुषण-काल की सिद्ध होती है। उसी स्थान पर उसी काल की दूसरी प्रतिमा सर्पों के छत्र के चिह्न से पार्श्वनाथ की जान पड़ती है। यह स्थिरा नामक किसी महिला के द्वारा सभी जीवों की भलाई की इच्छा से भेंट की गयी थी। यह भी कुषण काल की है।

अब इस काल के पहले की कुछ प्रतिमाओं का विवरण दिया जाता है। फर्वरी १८९१ में काँकली में एक प्राचीन शिला मिली है, जिसपर एक आसीन जैनमूर्ति अंकित है। अभाग्यवश इस प्रतिमा का सिर गायब है। उनकी सेवा में अनेक देव तथा आसन पर दो सिंह और दो वृषभ अंकित हैं। वृषभ की स्थिति इसे आदिनाथ या ऋषभदेव की मूर्ति सिद्ध करती है। नीचे की लिपि प्राचीन जान पड़ती है। आदिनाथ की दूसरी कुषणकालीन मूर्ति मथुरा म्यूज़ियम के शिला पर न० B 4 में अंकित है। लेख के अनुसार कुषण नृपति शाही वसुदेव के राज्य के चौरासिवें वर्ष में वह मूर्ति एक मठ में स्थापित की गयी थी। सामने के आसन पर कई पुरुष और नारियों से पूजित एक स्तंभ पर स्थित चक्र है।

सन् १८९० में प्राप्त एक कुषणकालीन शिला में अनन्तनाथ की विकृत मूर्ति मिलती है। इसमें बायें हाथ में कपड़े का एक टुकड़ा लिए और त्रिशूल पर स्थित एक चक्र के बगल में खड़ी हुई जिनमूर्ति अंकित है। उसी काल के एक खुदे हुए पत्थर पर, जो किसी जैन-मठ के तोरण का भाग रहा होगा, पार्श्वनाथ और महावीर की मूर्तियाँ अंकित जान पड़ती हैं। नेमिनाथ की एक सुन्दर मूर्ति मथुरा म्यूज़ियम में है जिसका वर्णन वोगल (Vogal) ने अपने "मथुरा म्यूज़ियम के पुरातत्व" में किया है। दो स्तंभों और सिंहों के जोड़े पर स्थित एक सिंहासन पर नेमिनाथ ध्यानावस्था में विराज-

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

मान हैं। स्तंभ के पीछे हाथ जोड़े हुए दो व्यक्ति हैं। एक जड़ाऊ वस्त्र सिंहासन से नीचे दोनों सिंहों के बीच लटक रहा है। उसके नीचे एक चक्र जान पड़ता है। आसन की सादी कोर पर नेमिनाथ का चिह्न शंख अंकित है।

जैन-कथाओं में कृष्ण वासुदेव और उनके परिवार का वर्णन बहुत मिलता है। अन्तकृत दशांग के एक प्रसंग के अनुसार अरिष्टनेमि ने कृष्ण-परिवार के कुछ व्यक्तियों को जैन-धर्म में दीक्षित किया था और स्वयं कृष्ण को दुखमा-सुखमा काल में उत्पन्न होने वाला भावी बारहवां तीर्थंकर घोषित किया था। मथुरा के एक खुदे हुए शिलापट पर, जो अपने लेख के अनुसार संभवतः कुषणराज वसुदेव के राज्यकाल में धनहस्तिन नामक किसी व्यक्ति की पत्नी के द्वारा भेंट किया गया था, एक मुनि को किसी महिला द्वारा भेंट ग्रहण करते हुए दिखलाया गया है। दोनों के बीच बड़े अक्षरों में 'कराह' श्रमण लिखा हुआ मिलता है जो संभवतः कृष्ण ही हो सकते हैं। कृष्ण संबन्धी जैन मान्यताओं को माना जाय या नहीं परन्तु इतना निश्चित है कि कृष्ण के चचेरे भाई अरिष्टनेमि के समय में जैन और वैष्णव धर्मों का घनिष्ट संपर्क हो गया था। इस पारिवारिक संबन्ध के कारण उस समय से यादवकुल के प्रभाव वाले द्वारिका, मध्य-भारत यथा यमुना-धारा के प्रदेशों में जैन और वैष्णव-धर्म समान रूप में वर्तमान रहे।

ऊपर वर्णित सर्वतोभद्रिका प्रतिमा के अतिरिक्त मथुरा म्यूज़ियम के शिलापट्ट B70 और B71 में भी पार्श्वनाथ की मूर्तियाँ अंकित मिलती हैं जो नागछत्र के द्वारा स्पष्ट पहचानी जा सकती हैं। ये मूर्तियाँ भी संभवतः हमारे निर्दिष्ट समय की ही जान पड़ती हैं।

तीर्थंकरों में सर्वप्रसिद्ध वर्द्धमान महावीर हैं। मथुरा या अन्य जैन-केन्द्रों में इनकी असंख्य मूर्तियाँ प्राप्त हैं। प्रस्तुत विषय से सम्बन्धित कंकाली टीले से मिली दो ऐसी मूर्तियों का वर्णन आवश्यक है जो संभवतः खृष्टाब्दी की प्राथमिक सदियों की हैं। एक शिलापट पर वे कई सेवकों के साथ अपने पवित्र वृक्ष के नीचे आसीन हैं, जिनमें एक छत्रयुक्त नाग भी है। इसमूर्ति के आसन पर एक विकृत लेख है जिसका प्रारंभ 'नमो' से हुआ है। दूसरी मूर्ति एक मण्डप के नीचे अगल-बगल में दो सेवकों के साथ आसीन हैं। दोनों ही मूर्तियाँ ध्यानस्थ मुद्रा में हैं और सेवकों के अतिरिक्त उनके आसन पर दो सिंह तथा आकाश से फूल बरसाते हुए गंधर्वों और अप्सराओं के चित्र हैं।

जैन पहले प्रवर्तकों की ही मूर्त्ति स्थापित करते थे परन्तु उनकी धर्मकथाओं में चौबीस तीर्थंकरों के अतिरिक्त अन्य देवताओं के उल्लेख भी मिलते हैं। नायगामेष इस

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

प्रकार के सर्वप्रमुख देवता हैं। प्रथम ईस्वी सदी की लिपि में अंकित लेख के साथ एक शिलालेख का टुकड़ा मथुरा में मिला है जिनमें एक नीचे आसन पर मेष के मस्तक वाले नायगामेष पालथी मार कर बैठे हैं। इनका मुख ठीक सामने की ओर है मानों किसी व्यक्ति को उपदेश दे रहे हों, जिनकी मूर्ति नष्ट हो गयी है। लेख में देवता का नाम 'भगवत नेमेषो' दिया गया है। प्रस्तुत लेख के 'नेमेषो' कल्पसूत्र के हरिणेगमेषो, नेमिनाथ चरित्र के नायगमेषिन तथा अन्य ग्रन्थों के नेजमेष या नैगमेय नामक देवताओं के नामों का रूपान्तर हैं, जिनका स्वरूप जैन धार्मिक कलाओं में भेंड़, बकरा या हिरन के मस्तक से युक्त बतलाया गया है। मथुरा के आलोच्य शिलालेख में उनका सिर बकरे का है। कनिंघम ने भी चार नायगामेष की मूर्तियाँ खोज निकाली थीं। नहीं पहचानने के कारण उन्होंने इन्हें केवल बैल के सिर वाले देवता कहकर वर्णन किया है।

पूर्वकथित मथुरा की नायगामेष की मूर्ति के दाहिनी ओर तीन खड़ी हुई महिलाओं और एक बच्चे का चित्र है। बुहलर के विचारानुसार यह चित्र श्वेताम्बरागम में वार्णित संभवतः उस कथा को प्रस्तुत करता है जिसमें देवनन्दा और त्रिशला के बीच गर्भ के परिवर्तन का वर्णन है।

जैन पुराणों के अनुसार नायगामेषिन् गर्भ-धारण के देवता भी माने गये हैं। अन्तःकृत दशांग में एक प्रसंग है जिसके अनुसार सुलसा ने नायगामेषिन् को प्रसन्न कर उनकी कृपा से गर्भ-धारण किया था। प्राचीन काल में जैन नायगामेषिन् को स्त्री और पुरुष दोनों रूपों में चित्रित करते थे। कर्जन म्यूज़ियम मथुरा की २५५७ और E. I. नम्बर की शिलाओं पर इस देवता का पुरुष रूप मिलता है और उसी म्यूज़ियम की E 2 नम्बर की शिला पर उन्हें बकरे के मस्तक वाली देवी के रूप में चित्रित किया गया है।

जैन उपासना गृहों में सरस्वती, गणेश इत्यादि कुछ ऐसे देवों की मूर्तियाँ भी मिलती हैं, जिनकी हिन्दू-उपासना-गृहों में प्रधानता रहती है। कंकाली टीले से मस्तक-रहित दो नारी-मूर्तियाँ मिली हैं। एक तो पहचानी नहीं जा सकी परन्तु दूसरी सरस्वती की है। वह देवी एक चौकोर आसन पर घुटनों को ऊपर किये बैठी है। उसके बायें हाथ में एक पुस्तक है और दायाँ हाथ, जो उठा हुआ था, नष्ट हो गया है। आसन से लेख में इन्डोसीथियन लिपि की सात पंक्तियाँ हैं।

तीर्थंकरों तथा जैन-मत के अन्य देवों के अतिरिक्त मथुरा के कंकाली टीले पर कुछ छिटपुट ऐसे चिह्न और चित्र भी मिले हैं जिन्हें जैन पवित्र मानते हैं जैसे स्वस्तिक,

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

वज्र, शंख, वृषभ, हस्ति, हंस, हरिण इत्यादि। जैनियों के लिए स्वस्तिक सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ, वज्र पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ, शंख बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ, हाथी दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ, हंस पाँचवें तीर्थंकर सुमतिनाथ, हरिण सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ और वृषभ प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ के सूचक चिह्न हैं। इस प्रकार प्रकट होता है कि कंकाली टीले की कला पूर्णतः जैन विचारधारा से परिप्लावित है।

मथुरावशेषों के अतिरिक्त सातवीं, आठवीं, नौवीं और दसवीं शती की अनेक मूर्त्तियाँ भूगर्भ से निकली हैं, जिनसे जैन मूर्त्ति कला की मनोज्ञता, विशदता और महत्ता प्रकट होती है। लखनऊ म्यूज़ियम में ऐसी अनेक दसवीं शती की मूर्तियाँ हैं, जिनमें पार्श्वनाथ के चिन्ह सर्प का उपयोग मूर्त्ति के नीचे किया गया है। अबतक की उपलब्ध मूर्त्तियों में पार्श्वनाथ, महावीर और आदिनाथ की मूर्त्तियों की अधिकता है।

अम्बिका की मूर्त्ति का प्रचार भी जैन सम्प्रदाय में बहुत दिनों से चला आ रहा है। यह मथुरा, लखनऊ और दिल्ली आदि स्थानों के म्यूज़ियमों में है। इसके अतिरिक्त और भी अनेक प्राचीन मूर्त्तियाँ अम्बिका की उपलब्ध हुई हैं। उपलब्ध जैन मूर्त्तियों को देखने से प्रतीत होता है कि जैन तक्षण कला का प्राचीन भारत में सर्वाधिक प्रचार था।

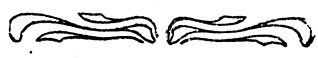

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जैन सिक्के

[ले० श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य, शास्त्री, साहित्यरत्न]

प्रत्येक देश और जाति के जीवन उत्थान के लिये इतिहास की परमावश्यकता है, क्योंकि अतीत की गौरवमयी दीपशिखा द्वारा पथप्रदर्शन का कार्य इतिहास से ही सम्पन्न होता है। जैन इतिहास का वर्षों से अनुसन्धान हो रहा है। शिलालेख, ताम्रपत्र, मूर्त्तिलेख, सिक्के, जैनग्रन्थों की प्रशस्तियाँ, विदेशी यात्रियों के यात्रा विवरण एवं देशी-विदेशी विद्वानों द्वारा लिखित ऐतिहासिक ग्रन्थ जैन इतिहास निर्माण के मौलिक उपकरण हैं। सिक्कों के अतिरिक्त अन्य ऐतिहासिक सामग्री का उपयोग जैन एवं जैनेतर विद्वानों ने बराबर किया है। अब तक इतिहास निर्माण के प्रधान उपादान सिक्कों का अध्ययन जैन दृष्टिकोण से करने की दिशा प्रायः रिक्त है। यही कारण है कि भूगर्भ से प्राप्त सिक्कों को अभी भी जैन मान्यता देने में विद्वानों को झिझक हो रही है। अतएव प्रस्तुत निबन्ध का ध्येय विद्वानों का ध्यान इस दिशा की ओर आकृष्ट करना ही है।

सन् १८८४ में कनिंघम साहब[1] ने अहिच्छत्र से प्राप्त ताँबे के सिक्के के एक ओर पुष्प सहित कमल और दूसरी ओर 'श्री महाराज हरि गुप्तस्य' अंकित देखकर यह तर्क उपस्थित किया था कि इस सिक्के में अंकित धर्मभावना वैदिकधर्म और बौद्धधर्म से भिन्न जैनधर्म की धर्म भावना है। क्योंकि वैदिकधर्म भावना की अभिव्यक्ति के लिये गुप्तवंश के राजाओं ने यज्ञीय अश्वमूर्त्ति, विष्णुभक्त इस वंश के राजाओं ने अपनी धर्मभावना की अभिव्यक्ति के लिये लक्ष्मीमूर्त्ति, शिवभक्तों ने अपनी धर्मभावना की अभिव्यक्ति के लिये नान्दी या शिवलिंग और बौद्धधर्मानुयायियों ने अपनी धर्म भावना की अभिव्यक्ति के लिये चैत्य-आकृति अंकित की है। पुष्प सहित कमल की आकृति का सम्बन्ध केवल जैनधर्म के प्रतीकों के साथ ही जोड़ा जा सकता है। जैनधर्म में अष्टमंगल द्रव्यों का बड़ा महत्व है, प्रत्येक कार्य में उसकी सफलता के लिये इन मंगलद्रव्यों का उपयोग किया जाता है। कलश का इन मंगल द्रव्यों में प्रमुख स्थान है। मथुरा से प्राप्त स्थापत्यावशेषों में मंगल-कलश की आकृति मिलती है तथा अनेक हस्तलिखित ग्रन्थों में भी मंगल-कलश का चिन्ह उपलब्ध है। अतएव कुम्भ-कलश प्रतीक अंकित सिक्के जैन हैं।

१ जैन साहित्य नो इतिहास पृ० १३१, गुप्तवंशना जैनाचार्य शीर्षक

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

कनिंघम साहब के साथ भारतीय सिक्कों का अध्ययन कैम्ब्रिज कालेज के अध्यापक रेप्सन, एलेन, गार्डनर, बुहलर, विसेन्टस्मिथ, सिउएल, ह्वाइटेड, राखालदास वन्द्योपाध्याय, डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा आदि विद्वानों ने किया है। कनिंघम साहब के अतिरिक्त अन्य समस्त विद्वानों ने वैदिक, वैष्णव, शैव और बौद्धधर्म की धार्मिक भावनाएँ ही प्राप्त मुद्राओं में व्यक्त की हैं। यदि ये विद्वान् जैन प्रतीकों से सुपरिचित होते, तो अवश्य ही अनेक सिक्कों को जैन सिद्ध करते। कारण स्पष्ट है कि सिक्कों में तद् तद् धर्मानुयायी राजाओं ने अपनी-अपनी धर्म भावना को प्रतीकों द्वारा अभिव्यक्त किया है। प्राचीन काल में अनेक जैन राजा हुए हैं, जिन्होंने अपनी मुद्राएँ प्रचलित की हैं। इन जैन राजाओं ने अपनी मुद्राओं में जैन प्रतीकों द्वारा अपनी धर्म-भावना को व्यक्त किया है। पुरातन राजाओं में ऐसे भी अनेक राजा हुए हैं, जो आरम्भ में वैदिक या बौद्ध धर्म का पालन करते थे, पर पीछे जैन आचार्यों से प्रभावित होकर जैनधर्म में दीक्षित हो गये अथवा प्रारम्भ में जैनधर्म का पालन करते थे, पीछे किसी कारणवश वैदिक या बौद्धधर्म का पालन करने लगे। ऐसे राजाओं के सिक्कों में कई प्रकार की धर्म-भावनाएँ मिलती हैं। जब तक ये वैदिकधर्म या बौद्धधर्म का पालन करते रहे, उस समय तक की मुद्राओं में इन्होंने वैदिक या बौद्ध धर्म की भावना को व्यक्त किया है। जैन धर्मानुयायी बन जाने पर उत्तरकालीन मुद्राओं में जैनधर्म की भावना को प्रतीकों द्वारा प्रकट किया है। इसी प्रकार जो प्रारम्भ में जैन थे, उन्होंने उस समय में चलाई मुद्राओं में जैन भावना और उत्तर काल में धर्म परिवर्तन कर लेने पर उस परिवर्तित धर्म की भावना को व्यक्त किया है। उन विदेशी सिक्काओं में भी जैनधर्म के प्रतीक मिलते हैं, जिन देशों में जैनधर्म के प्रचारकों ने वहाँ के राजाओं को अपने धर्म में दीक्षित कर लिया था।

भारत में अब तक के प्राप्त सिक्कों में लीडिया देश के सोने और चाँदी से मिश्रित श्वेत धातु के सिक्के सबसे प्राचीन हैं। इन सिक्कों को भारत में माल खरीदने के लिये वहाँ वाले यहाँ लाये थे। कई वर्ष हुए पंजाब के बन्नू जिले में सिन्धु नदी के पश्चिमी तट पर लीडिया के राजा क्रीसस का सोने का एक सिक्का मिला है। रंगपुर जिले के सद्यः पुष्पकारिणी नामक गाँव के प्रसिद्ध जमीन्दार श्रीयुत् मृत्युञ्जय राय चौधरी ने यह सिक्का खरीद लिया है[1]। इस सिक्के में एक ओर एक वृषभ और एक सिंह का मुँह बना है तथा दूसरी ओर एक छोटा और एक बड़ा पंच मार्क चिन्ह अंकित है।

1 According to Herodotus the earliest stamped money was made by the Lydians—Coins of Ancient India P. 3

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

उपर्युक्त सिक्के में अंकित प्रतीक वृषभ और सिंह का सम्बन्ध जैनधर्म की धार्मिक भावना से है; क्योंकि सिक्का निर्माता ने अपने प्रिय धर्म के इस युगीन प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभनाथ के चिन्ह वृषभ (साँड) तथा अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के चिन्ह सिंह को अंकित कर आदि तीर्थंकर और अन्तिम तीर्थंकर के प्रति भक्ति अभिव्यक्त की है। जैनग्रन्थों से विदित भी होता है कि यूनान, रोम, मिस्र, ब्रह्मा, श्याम, अफ्रीका, सुमात्रा, जावा, बोर्नियो आदि देशों में जैनधर्म का प्रचार ईस्वी सन् से कई शताब्दि पहले ही वर्तमान था। अतएव क्रीसस का अहिंसा धर्म का पालक होना असंभव नहीं है।

रैप्सन ने अपने 'भारतीय सिक्के' नामक ग्रन्थ और रायल एशियाटिक सोसाइटी की पत्रिका के अनेक निबन्धों में भारतीय यूनानी राजाओं के सिक्कों का विवरण उपस्थित किया है[1]। इस विवरण से प्रतीत होता है कि यूनानी अनेक राजाओं पर जैनधर्म का पूर्ण प्रभाव था; इसी कारण उन्होंने अपने सिक्कों में जैन प्रतीकों को स्थान दिया। अयिलिष[2] के दस प्रकार के चाँदी के सिक्के मिले हैं, जो सबके सब गोलाकार हैं। इनमें कई सिक्कों पर जैन प्रतीक नहीं हैं। किन्तु इसके ताँबे के सात प्रकार के सिक्कों में से दूसरे प्रकार के सिक्कों पर एक ओर खड़े हुए हरक्यूलस की मूर्त्ति, दूसरी ओर अश्व की मूर्त्ति है। तीसरे प्रकार के सिक्कों पर अश्व के बदले में वृषभ की मूर्त्ति है, चौथे प्रकार के सिक्कों पर वृषभ के स्थान पर हाथी की मूर्त्ति है। पाँचवें प्रकार के सिक्कों पर एक ओर हाथी की मूर्त्ति और दूसरी ओर वृषभ की मूर्त्ति है।

The earliest coinage, of the ancient world would appear chiefly to have been of silver and electrum; the latter metal being confined to Asia Minar, and the former to Greece and India. Some of the Lydian Staters of pale gold may be as old as Gyges. Ibid, P. 19

1 Notes on Indian Coins and Seals, Journal of the Royal Asiatic Society, 1900—5, Coins of the Greco-Indian Sovereigns, Agathocleia and Strato, Soter and Strato II Philopator.

Numismtic Notes and Novelties, Journal of the Asiatic Society of Bengal—Old series, I, 1890

2 Catalogue of Coins in the Punjab Museum, Lahore Vol. I, P. 139, Nos 361-62

Connigham's Coins of Ancient India Vol. I, P. 50, इसकी जैनधर्म के प्रति-श्रद्धा थी—देखें संक्षिप्त जैन इतिहास भाग ३ खंड २ पृ० १३

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

उपर्युक्त अयिलिष के ताँबे के सिक्कों में जैन प्रतीकों का उपयोग किया गया है। अश्व तृतीय तीर्थंकर भगवान् संभवनाथ का चिन्ह है, वृषभ प्रथम तीर्थंकर भगवान् आदिनाथ का चिन्ह है तथा हाथी द्वितीय तीर्थंकर भगवान् अजितनाथ का चिन्ह है। इस राजा के चाँदी के सिक्कों पर एक भी जैन प्रतीक अंकित नहीं है, ताँबे के सिक्कों में तीन-चार प्रकार के सिक्के जैन प्रतीकों से युक्त हैं, इससे प्रतीत होता है कि यह राजा प्रारम्भ में जैन धर्मानुयायी नहीं था। उत्तरकाल में किसी जैन श्रमण के प्रभाव से अहिंसा धर्म का अनुयायी बन गया था। वास्तविक बात यह है कि शक राजाओं में कई राजा जैनधर्म का पालन करते थे।

इस्वी सन् से पूर्व पहली और दूसरी शती के उज्जयिनी के ताँबे के सिक्कों पर एक ओर वृषभ और दूसरी ओर सुमेरु पर्वत अंकित हैं[1]। इन सिक्कों में स्पष्टतः जैन प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। वृषभ से आदिम तीर्थंकर की भावना और सुमेरु पर्वत से विशाल विश्व की भावना अभिव्यक्त की गयी है। जैनागम में सुमेरु को इस पृथ्वी का केन्द्र बिन्दु माना है। प्राचीन हस्तलिखित कतिपय ग्रन्थों के अन्त में सुमेरु पर्वत ग्रन्थ समाप्ति के अनन्तर अंकित किया गया है। इस भावना का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सूर्य, चन्द्र नित्य सुमेरु की प्रदक्षिणा किया करते हैं, उसी प्रकार यह जैनधर्म 'यावच्चन्द्रदिवाकरौ' स्थित रहे। सुमेरु की रचना के सम्बन्ध में भी कई विधियाँ प्राप्त होती हैं। कुछ सिक्कों में तीन चिपटे शून्यों का पर्वताकार ढेर, कुछ में छः चिपटे शून्यों का ढेर और कुछ में नौ चिपटे शून्यों का पर्वताकार ढेर है। तीन शून्य रत्नत्रय के प्रतीक, छः शून्य षट् द्रव्य के प्रतीक और नौ शून्य नवपदार्थ के प्रतीक हैं। इस प्रकार सुमेरु की विभिन्न आकृतियों में जैन भावना को विभिन्न प्रकार से अभिव्यक्त किया गया है। वैदिक या बौद्धधर्म में सुमेरु को इतना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं है, जितना जैनधर्म में। यही कारण है कि प्राचीन लिपिकारों ने ग्रन्थ समाप्ति में सुमेरु की आकृति अंकित की है।

जनपद और गणराज्यों के प्राप्त सिक्कों में कुछ सिक्के उदुम्बर जाति के माने जाते हैं। स्मिथ साहब ने ताँबे और पीतल के बने हुए बहुत से छोटे-छोटे गोलाकार सिक्कों को उदुम्बर जाति के सिक्के माना है[2]। उनका कहना है कि दो प्रकार के ताँबे के सिक्कों पर उदुम्बर जाति का नाम लिखा मिलता है। पहले प्रकार के सिक्कों पर एक

1 Coins of Ancient India P. 14; Indian Museum Coins Vol. 1, P. 154-155, No, 29, 30, 34; P. 155 No 35.

2 Coins of Ancient India P. 88

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

ओर हाथी, घेरे में बोधि वृक्ष और नीचे एक साँप है। दूसरी ओर दो तल्ला या तीन तल्ला मन्दिर स्तम्भ के ऊपर स्वस्तिक और धर्मचक्र हैं [1]।

निश्चय ही ये पहली प्रकार के सिक्के किसी जैन धर्मानुयायी उदम्बर जाति के राजा के हैं। इन मुद्राओं में अंकित धर्म भावना जैनधर्म की है। हाथी द्वितीय तीर्थंकर का लाञ्छन और बोधि वृक्ष केवलज्ञान प्राप्त करने का संकेत है अथवा भगवान के आठ प्रतिहार्यों में से पहला प्रातिहार्य है [2]। नीचे साँप अंकित है, वह तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ का चिह्न है। अतः मुद्रा की प्रथम पीठिका जैन संकेतों से युक्त है। दूसरी पीठिका में जो मन्दिर स्तम्भ के उपर स्वस्तिक और धर्मचक्र बताये गये हैं, वे भी जैन प्रतीक हैं। मन्दिर के स्तम्भ के ऊपर स्वस्तिक और धर्मचक्र अंकित करने की प्रणाली आज भी जहाँ-तहाँ पायी जाती है। स्वस्तिक को जैनधर्म में मंगलकारी माना गया है, कहीं-कहीं स्याद्वाद दर्शन का प्रतिक भी स्वस्तिक को माना है। जो व्यक्ति इसे स्याद्वाद दर्शन का प्रतीक मानते हैं, वे इसका अर्थ सु = समस्त, अस्ति = स्थिति, क = प्रकट करनेवाला अर्थात् समस्त संसार की समस्त वस्तुओं की वास्तविक स्थिति प्रकट करने की सामर्थ्य स्याद्वाद दर्शन में है, अतः स्वस्तिक स्याद्वाद दर्शन का प्रतीक है। प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों में ग्रन्थ आरम्भ के पहले स्वस्तिक चिह्न तथा ग्रन्थ समाप्त करने पर भी स्वस्तिक चिह्न मंगल-सूचक होने के कारण दिया गया है।

स्वस्तिक में जैन मान्यतानुसार जीवन की भी अभिव्यञ्जना वर्तमान है। स्वस्तिक के किनारेदार चारों छोर चार गतियों के प्रतीक हैं। जीव अधर्म—स्वभाव बहिर्मुख होने के कारण नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव गतियों में परिभ्रमण करता है, जब यह धर्म— स्वस्वभाव में स्थिर हो जाता है तो प्रभु बन जाता है। धर्म स्वभाव का द्योतक स्वस्तिक में मध्य केन्द्र बिन्दु माना है और अधर्म का द्योतक मध्य बिन्दु से हटकर कोई भी स्थान है, जो बन्ध का कारण है। जैनमान्यता में स्वस्तिक को प्रत्येक

---

1 Journal of Proceedings of the Asiatic society of Bengal, Vol X. Numismatic supplement, No XXIII P., 247. Coins of Ancient India P. 68

२ उच्चैरशोकतरुसंश्रितमुन्मयूख—
माभाति रूपममलं भवतो नितान्तम्।
स्पष्टोल्लसत्किरणमस्ततमोवितानं—
बिम्बं रवेरिव पयोधरपार्श्ववर्ति ॥—भक्तामर स्तोत्र पद्य सं० २८

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

शिल्प, ग्रन्थ, मुद्रा आदि में अंकित इसलिये किया गया है कि जीव अपने स्वभाव को पहचान कर चतुर्गति के परिभ्रमण से छुटकारा पा सके।

धर्मचक्र जैन संस्कृति का प्रमुख प्रतीक है,[1] इसकी गणना अर्हन्त के अतिशयों में की गयी है। प्रत्येक तीर्थंकर के तीर्थ प्रवर्तनकाल में धर्मचक्र आगे चलता है। जैन साहित्य में बताया गया है कि प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने तक्षशिला में इसका प्रवर्तन किया था। प्राचीन जैनागम में धर्मचक्र का अनेक स्थानों पर उल्लेख आया है, यह योजन प्रमाण सुविस्तृत सर्वरत्न मय होता है। कुषणकाल से लेकर मध्यकाल तक की जैन प्रतिमाओं के नीचे धर्मचक्र का चिह्न अवश्य रहा है। अतएव इसमें कोई सन्देह नहीं कि उपर्युक्त उदम्बर जाति का सिक्का जैन है; उसमें अंकित सभी प्रतीक जैन हैं। जैनधर्म का श्रद्धानी राजा ही इस प्रकार की मुद्रा प्रचलित कर सकता है। प्राचीन गणतन्त्र भारत में अनेक जनपदीय शासक जैनधर्म का पालन करते थे[2]।

मालव जाति के कई सिक्के जैन हैं; इस जाति के आठ प्रकार के सिक्के अबतक उपलब्ध हुए हैं[3]। द्वितीय उपविभाग के सिक्कों के एक ओर अशोक वृक्ष, दूसरी ओर कलश है[4]। तीसरे उपविभाग के सिक्कों पर पहली ओर घेरे में अशोक वृक्ष और दूसरी ओर कलश है[5]। ऐसे सिक्के दो प्रकार के हैं— चौकोर और गोलाकार। चौथे उपविभाग के सिक्के चौकोर हैं, इन पर दूसरी ओर सिंह मूर्ति है। पाँचवें उपविभाग के सिक्कों पर दूसरी ओर वृषभ है। ये भी गोलाकार और चौकोर हैं। कारलाइल ने इस जाति के चालीस राजाओं के नामों के सिक्के ढूंढे हैं, परन्तु आजकल २० राजाओं के ही सिक्के मिलते हैं। इन बीस राजाओं में यम, मय और जायक जैनधर्म के श्रद्धानी थे। यम ने आचार्य सुधर्म के संघ में जाकर जैन दीक्षा ग्रहण की थी।

यौधेय जाति के सिक्के साधारणतः तीन भागों में विभिक्त हैं[6]। प्रथम विभाग

१ देखें—श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर भाग १७ किरण १ पृ० ५६-६० तथा Baranett, Antiquities of India P. 253

२ जैनिज्म इन नार्थ इंडिया पृ० ७६-१४६ प्रकरण जैनिज़्म इन रायल फेमिली

3 Indian Museum Coins Vol. I, P. 170-171, Nos. 1-11

४ प्राचीन मुद्रा पृ० १४५

5 Indian Museum Coins Vol. 1, P. 171, Nos 12-13, 14-22

6 Indian Museum Coins Vol. 1, P. 165; Coins of Ancient India P. 76

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

के सिक्के सबसे प्राचीन हैं, और ये ही सिक्के जैन हैं। इन सिक्कों पर एक ओ
और स्तम्भ एवं दूसरी ओर हाथी और वृषभ हैं। पहली ओर ब्राह्मी अ
"यधेयन (योधेयानां)" लिखा है [१]। शेष दो विभाग के सिक्कों पर जैन प्रती
हैं। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि यौधेय जाति के राजा पहले जैनधर्म
थे, पीछे भागवत धर्म में दीक्षित हो गये थे; क्योंकि द्वितीय और तृतीय विभ
सिक्कों में भागवत् धर्म की भावना अंकित है।

यद्यपि गुप्तवंश के कई राजा जैनधर्म के श्रद्धालु थे, परन्तु इस वंश के प्राप्त
में जैन प्रतीकों का प्रायः अभाव है। इसका प्रधान कारण यही है कि गुप्तवंश
राजा कट्टर ब्राह्मण धर्मानुयायी थे, इसलिये उन्होंने अपनी धर्म भावना की अभिव्य
के लिये ब्राह्मण धर्म के प्रतीकों को ही ग्रहण किया है। यद्यपि जैन इतिहास
ऐसे अनेक उल्लेख वर्तमान हैं, जिनसे गुप्तकालीन जैन साहित्य और जैनधर्म
पर्याप्त उन्नति प्रकट होती है। असल बात यह है कि ब्राह्मण धर्मानुयायी होते
भी गुप्तवंश के राजाओं ने सभी धर्मों को प्रश्रय दिया था।

ईस्वी सन् की पहली शताब्दी में मालव और सौराष्ट्र में महाक्षत्रप उपाधिधा
शक राजाओं ने राज्य स्थापित किया था। इस उपाधिधारी राजाओं में दो व
के राजाओं का प्रभुत्व प्रधानरूप से सौराष्ट्र पर रहा है। पहले राजवंश के कुष
साम्राज्य स्थापित होने से पहले और दूसरे राज्यवंश ने कुषण राजवंश के साम्रा
के नष्ट होने के समय सौराष्ट्र पर अधिकार किया था। प्रथम राजवंश में केव
दो राजाओं के सिक्के मिलते हैं। पहले राजा का नाम भूमक था। इसके
ताँबे के सिक्के उपलब्ध हुए हैं, उन पर एक ओर सिंह की मूर्त्ति, दूसरी ओर च
तथा एक ओर खरोष्ठी अक्षरों में "छहरदास छत्रपस भूमकस" और दूसरी ओ
ब्राह्मी अक्षरों में "क्षयरातस क्षत्रपस भूमकस" लिखा है [२]।

उपर्युक्त सिक्कों में जैन प्रतीक अंकित हैं, अतएव यह मानना असंगत नहीं क
जा सकता है कि भूमिकस जैन था। इस राजा का उत्तराधिकारी क्षत्रप नहप
बताया गया है। जिनसेनाचार्य ने इसका उल्लेख नरवाह नाम से किया
इसका राज्यकाल ४२ वर्ष लिखा है। अनुमानतः यह ई० पू० ५८ में राज्याधिर

१ राखालादास वन्द्योपाध्याय की प्राचीन मुद्रा पृ० १४६; Rodgers Catalogue Coins, Lahore museum.

2 Rapson, Catalogue of India Coins in the British museur Andhras, Western Ksatrapas etc. pp. 63-64, Nos 237-42

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

हुआ था [1] । जैन शास्त्रों में इसका उल्लेख नरवाहन, नरसेन, नहवाण आदि रूपों में किया गया है[2] । इसका एक विरुद भट्टारक आया है, जिससे इसका जैन होना स्वतः सिद्ध है [3] । नहपान के सिक्के बहुलता में अभी तक नहीं मिले हैं। कनिंघम साहब को इस राजा का ताँबे का एक सिक्का मिला था। इस पर एक ओर वज्र और ब्राह्मी अक्षरों में नहपान का नाम तथा दूसरी ओर घेरे में अशोक वृक्ष है । अतएव भूमिकस और नहपान के सिक्के जैन हैं।

नहपान के राजत्व काल के अन्तिम वर्षों में आन्ध्रवंशी गोतमीपुत्र शातकर्णी ने शकों के पहले क्षत्रप वंश का अधिकार नष्ट कर दिया था और नहपान के चाँदी के सिक्कों पर अपना नाम लिखवाया था। ऐसे सिक्कों पर एक ओर सुमेरुपर्वत और सके नीचे साँप तथा ब्राह्मी अक्षरों में "राञो गोतमि पुत्रस सिरि सात कणिस" लिखा है दूसरी ओर उज्जयिनी नगरी का चिह्न है। इस राजा ने स्वयं अपने भी सिक्के बनवाये थे; इन सिक्कों पर इसने एक ओर राजा का मुख और ब्राह्मी अक्षरों में "राञो गोतमिपुतसिरियञसातकणिस" लिखा है। दूसरी ओर उज्जयिनी नगरी का चिह्न सुमेरु पर्वत, साँप और दाक्षिणात्य के ब्राह्मी अक्षरों में.....'णष गोतम पुत्रष हिसयञ हातकणिष" लिखा है [4] ।

गोतमीपुत्र शातकर्णी के सिक्कों में जैन प्रतीक हैं। यह राजा पहले वैदिकधर्मानुयायी था, परन्तु अपने पिछले जीवन में इसने जैनधर्म ग्रहण कर लिया था [5] । नासिक के शिलालेख में इसे अशिक, अश्मक, मूलक, सुराष्ट्र, कुकुर, अपरान्त, अनूप विदर्भ और अकरावन्ती का शासक बताया है। इसका राज्यकाल ई० १००-४४ है। इसका जैन गृहस्थ के व्रतों को पालन करने का भी उल्लेख मिलता है।

दक्षिणापथ के सिक्कों में आन्ध्रजातीय राजाओं के सिक्के सबसे पुराने हैं। किसी समय आन्ध्र राजाओं का साम्राज्य नर्मदा नदी के दक्षिणी किनारे से समुद्रतट तक था। इसलिये मालव, सौराष्ट्र, अपरान्त आदि भिन्न-भिन्न देशों में भी आन्ध्र राजाओं ने भिन्न-भिन्न सिक्के प्रचलित किये थे। आन्ध्र देश— कृष्णा और गोदावरी

1 Journal of the Bihar and Orissa Research Society Vol. 16, P. 289

२ राजपूताने का इतिहास भाग १ पृ० १०३

३ भरुयच्छेणयरे नहवाहणो राया कोससमिद्धो—आवश्यकसूत्र भाष्य ।

4 Rapson British Museum Coins P. 68—70 Nos 253-54, P. 45, N. 178

५ संक्षिप्त जैन इतिहास द्वितीय भाग, द्वितीय खंड पृ० ६१-६६

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

नदी के बीच के प्रदेश में दो प्रकार के सिक्के प्राप्त हुए हैं। ये दोनों प्रकार के सिक्के पुडुमावि, चन्द्रशाति, श्रीयज्ञ और श्रीरुद्र आदि राजाओं ने प्रचलित किये थे। पहले प्रकार के सिक्कों पर एक ओर सुमेरु पर्वत और दूसरी ओर उज्जयिनी नगरी का चिह्न है। इन सिक्कों के निर्माता वाशिष्ठी पुत्र श्री पुडुमावि, वाशिष्ठी पुत्र श्रीशातकर्णि वाशिष्ठी पुत्र श्री चन्द्रशाति, गोतमीपुत्र श्रीयज्ञशातकर्णि और रुद्रशातकर्णि हैं[1]।

दूसरी प्रकार के सिक्के पर एक ओर घोड़ा, हाथी अथवा दोनों की मूर्त्तियाँ तथा दूसरी ओर सिंह की मूर्त्ति है। ये सिक्के श्रीचन्द्रशाति, गोतमीपुत्र श्रीयज्ञशातकर्णि और श्रीरुद्रशातकर्णि के हैं। निश्चय ही ये दोनों प्रकार के सिक्के जैन हैं; क्योंकि इनमें जैन प्रतीकों का व्यवहार किया गया है[2]।

मालव में आन्ध्र राजवंश के कुछ पुराने सिक्के मिले हैं[3]। स्वर्गीय पंडित भगवानलाल इन्द्रजी ने अपने एकत्रित किये हुए सिक्के लन्दन के ब्रिटिश म्यूज़ियम को प्रदान किये हैं[4]। इन सिक्कों में दो प्रकार के सिक्के मिलते हैं। इन पर अंकित लेख का जो अंश पढ़ा गया है, उससे पता चलता है कि ये सिक्के आन्ध्र राजाओं के ही हैं। पहले प्रकार के सिक्के ईरान के पुराने सिक्कों के ही समान हैं। कनिंघम ने लिखा है कि इस प्रकार के सिक्के पुरानी विदिशा नगरी (बेसनगर) के खंडहरों में बेस तथा बेतवा नदी के बीच मिले हैं[5]। इसी कारण रैप्सन ने अनुमान किया है कि ये सभी सिक्के पूर्व मालव के हैं। इन सिक्कों को चार विभागों में बाँटा जा सकता है। पहले विभाग के सिक्के पोटिन के बने हैं, इन पर एक ओर घेरे में बोधिवृक्ष, उज्जयिनी नगरी का चिन्ह, वृषभ और सूर्य चिन्ह अंकित हैं। दूसरी ओर हाथी और स्वस्तिक चिन्ह हैं[6]। दूसरे विभाग के सिक्के ताँबे के हैं; इन पर एक ओर हाथी की मूर्त्ति और दूसरी ओर घेरे में बोधिवृक्ष (अशोकवृक्ष) और उज्जयिनी नगरी के चिन्ह हैं। तीसरे विभाग के सिक्कों पर पहली ओर सिंह

1 Rapson, Catalogue of Indian Coins Andhras, W. Khatrapas etc. p. I XXII

2 Rapson, Catalogue of Indian Coins Andhras, W. Khatrapas, etc. p. I XXIV; प्राचीन मुद्रा पृ० २१४

3 Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society Vol. XIII, 10. 311

4 Rapson, British Museum Coins p. XCVI.

5 Cunnigham's Coins of Ancient India, p. 99

6 Rapson, British Museum Coins P. 3, Nos 5-6-7-8-9-11

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

की मूर्त्ति और वृषभ चिन्ह तथा दूसरी ओर बोधिवृक्ष और उज्जयिनी नगरी के चिन्ह हैं। ये तीसरे विभाग के सिक्के भी ताँबे के हैं। चौथे विभाग के सिक्के पोटिन के बने हुए हैं। इन पर पहली ओर सिंह की मूर्ति और स्वस्तिक चिन्ह हैं तथा ब्राह्मी अक्षरों में "रञो सातकंणिस" लिखा है। दूसरी ओर वृषभ, उज्जयिनी नगरी का चिन्ह और घेरे में बोधिवृक्ष हैं।

उपर्युक्त सिक्कों में अंकित धार्मिक भावना स्पष्टतः जैन है। सूर्य को जैन संस्कृति में केवलज्ञान का प्रतीक माना गया है। अतएव उपर्युक्त सिक्कों को निस्सन्देह जैन माना जा सकता है। जो राजा अर्धस्वतन्त्र थे, उज्जयिनी के आधीनस्थ थे, वे अपने सिक्कों में उज्जयिनी चिन्ह अंकित करते थे। अतएव आन्ध्र देश में मिले हुए जिन सिक्कों पर सुमेरुपर्वत, उज्जयिनी, सर्प, सिंह, वृषभ, हाथी, बोधिवृक्ष, स्वस्तिक, कलश अंकित हैं, वे सिक्के निश्चय जैन हैं।

पल्लव राजाओं के प्राप्त सिक्कों में; जिन पर सिंह का चिन्ह और संस्कृत तथा कन्नड़ भाषा में कुछ लिखा मिलता है,[1] वे सिक्के भी जैन हैं। इस वंश का राजा महेन्द्रवर्मन् जैनधर्मानुयायी था।

ईस्वी सातवीं शती के उत्तरान्त चालुक्यवंशी राजा दो भागों में विभक्त हो गये थे। पूर्व की ओर चालुक्य राजा कृष्णा और गोदावरी नदी के बीच के प्रदेश में राज्य करते थे और पश्चिम ओर चालुक्य राजाओं का राज्य दक्षिणापथ के पश्चिम प्रान्त में था। इन राजाओं के सिक्के सोने और चाँदी के मिलते हैं। इन सिक्कों की धार्मिक भावना यद्यपि वैदिक ही है, परन्तु जैन संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। इस वंश का प्राचीन लेख धारवाड़ जिले के आदुर ग्राम से मिला है, जिसमें राजा कीर्त्तिवर्मा प्रथम द्वारा नगर सेठ के बनाये जैन मन्दिर को दान देने का उल्लेख है। इस वंश के राजाओं ने जैन गुरुओं को भी दान दिये थे।

कदम्बवंश के प्राप्त सोने के सिक्कों में कमल की भावना अंकित है। इस वंश में मृगेशवर्मा से लेकर हरिवर्मा तक राजा जैनधर्मानुयायी थे। इन्होंने कमल द्वारा मोक्ष-लक्ष्मी की भावना को व्यक्त किया है। जैनों के चौबीस तीर्थंकरों में कमल पद्मप्रभु भगवान का चिन्ह है। कमल प्रतीक को रखने का एक अन्य हेतु यह भी है कि लौकिक दृष्टि से यह उत्साह, आनन्द, स्फूर्त्ति और कार्यपरायणता का द्योतक है। कदम्बवंश के राजाओं की मुद्राओं में इसीलिये दो प्रकार के चिन्ह मिलते हैं, कि उनमें आदिम कई राजा वैदिक धर्मानुयायी थे। इस वंश के जो राजा वैदिकधर्म

1 Indian Coins P. 37

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

का पालन करते थे उनके सिक्कों में वराह अवतार अथवा लक्ष्मी की मूर्त्ति मिलती है। जैन राजाओं ने अपनी धर्मभावना की अभिव्यक्ति के लिये कमल को प्रतीक चुना था।

यादव वंशी राजाओं के राज्य देवगिरि और मैसूर के द्वारसमुद्र नामक स्थान में थे। देवगिरि में राज्य करनेवाले राजाओं के सोने, चाँदी और ताँबे के सिक्के मिले हैं, परन्तु इन सभी सिक्कों पर हिन्दू धार्मिक भावना का प्रतीक गरुड़ अंकित किया गया है।

मैसूर के द्वारसमुद्र नामक स्थान में भी इस वंश के राजाओं के सोने और ताँबे के सिक्के मिले हैं। सोने के सिक्कों पर एक ओर सिंह की मूर्ति और दूसरी ओर कन्नड़ लेख है। ताँबे के सिक्कों पर एक ओर हाथी की मूर्त्ति और दूसरी ओर कन्नड़ लेख है[1]। इस स्थान के यादववंशी राजाओं के सिक्कों पर नाम के बदले में उपाधि मिलती है; जैसे—श्रीतलकाडु गोण्ड अर्थात् तलकाडु विजयी। उपर्युक्त द्वारसमुद्र से प्राप्त सिक्के जैन हैं; क्योंकि इनमें जैन प्रतीकों का व्यवहार किया गया है।

बरंगल के काकतीय वंश के राजाओं के सोने और ताँबे के सिक्के मिले हैं। इन पर एक ओर वृषभ का चिन्ह है और दूसरी ओर कन्नड़ी अथवा तेलगू भाषा का लेख है[2]। ये सिक्के भी जैन हैं।

दक्षिणापथ में पाण्ड्य, चेर, राष्ट्रकूट, गंग आदि कई वंश के राजा जैन धर्मानुयायी थे। इन्होंने १२ वीं, १३ वीं और १४ वीं शती में मुद्राएँ प्रचलित की थीं। इन राजाओं की मुद्राओं पर भी जैन प्रतीक मिलते हैं। वास्तव में दक्षिणापथ में जैनधर्म का प्रचार कई शताब्दियों तक जोर से रहा है। इस धर्म ने राजाश्रय पाकर अपनी उन्नति की थी। अनेक राजाओं ने जैन गुरुओं को दान दिये थे।

मिहिर कुल के प्राप्त सिक्कों में दो प्रकार के ताँबे के सिक्के प्रधान हैं। पहले प्रकार के सिक्कों पर एक ओर राजा का मस्तक और उसके मुँह के पास 'श्रीमिहिर कुल; अथवा 'श्रीमिहिरगुल' लिखा है। दूसरी ओर ऊपर खड़े हुए वृषभ की मूर्त्ति है और उसके नीचे 'जयतु वृष' लिखा है[3]। ये पहले प्रकार के सिक्के जैन हैं। द्वितीय प्रकार के सिक्कों पर एक ओर खड़े हुए राजा की मूर्त्ति और उसके बगल में

1 Elliott's South Indian Coins p. 152, Nos 87-89½; 90-91
2 प्राचीन मुद्रा २२६; South Indian coins p. 152 Nos 93-95
3 Indian Museum Coins Vol. I, P. 337 Nos 1.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

एक ओर 'षाहिमिहिरकुल' लिखा है। दूसरी ओर सिंहासन पर पद्मावती की मूर्त्ति है[1]। मिहिरकुल के ये सिक्के तोरमाण के सिक्कों पर बने हुए हैं[2]। हमारा अनुमान है कि यह तोरमाण जैनाचार्य हरिगुप्त का प्रशिष्य और देवगुप्त का शिष्य था[3]। यही कारण है कि मिहिरकुल के सिक्कों में जैनधर्म की भावना अंकित की गयी है।

उत्तरापथ के मध्ययुगीन सिक्कों में उद्भाण्डपुर में शाही राजवंश के पाँच राजाओं के सिक्के मिले हैं। पहले प्रकार के सिक्कों पर एक ओर वृषभ और दूसरी ओर घुड़सवार की मूर्त्ति है। दूसरे प्रकार के सिक्कों पर एक ओर हाथी और दूसरी ओर सिंह की मूर्त्ति है[4]। तीसरे प्रकार के सिक्कों पर एक ओर सिंह और दूसरी ओर मयूर की मूर्त्ति है। हाथी और सिंह की मूर्त्तिवाले सिक्कों पर 'श्रीपदम', 'श्रीवक्कदेव' और 'श्रीसामन्तदेव' नाम मिले हैं। हाथी और सिंह की मूर्त्तिवाले सिक्के निश्चय जैन हैं। इन सिक्कों पर जैन भावना का प्रभाव है।

गुजरात में कुमारपाल और अजयपाल के सिक्के अधिक संख्या में मिले हैं[5]। ये चालुक्यवंशी राजा थे[6]। ग्वालियर राज्य में अजयपाल के राज्यकाल का वि० सं० १२२९ का खुदा हुआ एक शिला लेख मिला है[7]। इसी जगह कुमारपाल के राज्यकाल में वि० सं० १२२० का एक शिलालेख खुदा है। इसका अन्य शिलालेख मेवाड़ राज्य के चित्तौर में वि० सं० १२०७ का खुदा हुआ मिला है[8]। कुमारपाल का अजयपाल पुत्र था[9]। कुमारपाल ने आचार्य हेमचन्द्र से जैन धर्म की दीक्षा ली थी। इसने जैनधर्म के प्रचार के लिये अनेक प्रयास किये थे शत्रुंजय और गिरनार की यात्रा के लिये संघ निकालकर संघपति की उपाधि ग्रहण की थी और अनेक जैन मन्दिर भी बनवाये थे[10]।

1 Indian Museum coins Vol 1, P. 337 Nos 1.
2 Indian Coins P. 30
३ जैन साहित्यनो इतिहास पृ० १३२
4 Indian Museum Coins Vol. 1, P. 243, 246-248, Nos 1-15
5 Indian Coins P. 31
६ संक्षिप्त जैन इतिहास द्वितीय भाग, द्वितीय खंड पृ० १२६
7 Indian Antiquary Vol. XVIII, P. 347
8 Epigraphia Indica, Vol. II P 422
9 Epigraphia Indica, Vol. VIII, App. I p. 14
१० बम्बई प्रान्त के जैन स्मारक पृ० २१० तथा संक्षिप्त जैन इतिहास द्वि० भा० खं० २ पृ० १३३

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

कुमारपाल के सिक्के उद्भाण्डपुर के शाही राजाओं के सिक्कों के ढंग पर मिश्र धातु के हैं। इनमें एक ओर सिंह तथा दूसरी ओर हाथी की मूर्त्ति है। अजयपाल कट्टर वैदिक धर्मानुयायी था, पर इसके सिक्के भी कुमारपाल के ही समान हैं। इस प्रकार अनेक सिक्के जैन हैं, अन्वेषणशील विद्वानों को इस ओर ध्यान देना चाहिये।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

विविध-विषय

[ले० श्रीयुत पं० माधवराम शास्त्री, न्यायतीर्थ]

नेमिचन्द्रिका—

हिन्दी जैन कवियों में कवि मनरंगलाल का महत्वपूर्ण स्थान है। आपने चौबीसीपाठ, सप्तर्षिपूजा, सप्तव्यसनचरित्र, नेमिचन्द्रिका और शिखिर-सम्मेदाचल-माहात्म्य आदि ग्रन्थों का निर्माण हिन्दी भाषा में किया है। श्री जैन सिद्धान्त भवन आरा के हस्तलिखित ग्रन्थागार में सं० १८९५ की लिखी हुई 'नेमिचन्द्रिका' की एक प्रति उपलब्ध हुई है। इस प्रति के लिपिकार श्री रघुनाथ द्विज हैं, तथा यह प्रतिलिपि पट्टनपुर में की गयी है। नेमिचन्द्रिका पद्यबद्ध रचना है, इसमें ४८६ पद्य हैं।

यह एक खण्डकाव्य है। कविने इसमें दोहा, चौपई, भुजंगप्रयात, नाराच, सोरठा, अडिल्ल, गीता, छप्पय, त्रोटक, पद्धरी आदि छन्दों का प्रयोग किया है। पिंगलशास्त्र की दृष्टि से इनके सभी छन्द प्रायः शुद्ध हैं, गणदोष, पददोष, वाक्यदोष, यतिभंग आदि का अभाव है। एकाध स्थल पर लिपिकार की असावधानी के कारण छन्दोभंग प्रतीत भी होता है; परन्तु कवि ने वास्तव में यह त्रुटि नहीं की है।

इसकी भाषा कन्नौजी से प्रभावित खड़ी बोली है। यों तो भाषा में कोमल-कान्त-पदावली का प्रयोग सर्वत्र पाया जाता है। सानुप्रास, प्रसादगुण से अलंकृत एवं परिष्कृतपना इनकी भाषा के विशेष गुण हैं। करुणरस के वर्णन में शब्द स्वयं करुणा का मूर्तिमानरूप लेकर प्रस्तुत हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो स्वयं करुणा ही शब्दों का रूप धारण कर प्रादुर्भूत हुई है। प्रसंगानुसार भाषा का स्वरूप परिवर्तित होना इनकी विशेषता है।

कविने अपने कलापक्ष को पुष्ट करने के लिये अलंकारों का भी सुन्दर ढंग से प्रयोग किया है। इसमें शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों का ही प्रयोग पाया जाता है। शब्दालंकारों में प्रधानतः अनुप्रास[1], यमक आदि और अर्थालंकारों में उत्प्रेक्षा[2], रूपक, उपमा[3], आदि विशेष रूप से प्रयुक्त हुए हैं।

---

१ यहाँ और को काको रक्षै, निज कन्धा धरि धीर।

२ दुःख सों भरी देह घट छूटा। जनु वरषत अति दीरघ छूटा।

३ बालचन्द्र जिमि कुवर वपु, बढ़त महा सुख कंद।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

रस का परिपाक भी इसमें रसशास्त्र के नियमानुसार हुआ है। कवि ने प्रत्येक
के विभाव, अनुभाव और संचारी भावों का सुन्दर विश्लेषण किया है। शान्तर
वात्सल्यरस, करुणरस और विप्रलम्भशृंङ्गार रसों का वर्णन मुख्य रूप से किया ग
है। सीमित मर्यादा में स्वस्थ वातावरण को उपस्थित करने वाला विप्रलम्भशृंङ्ग
विशेष रूप से राजुल के विलाप वर्णन में आया है।

कथावस्तु निम्न है—

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के अन्तर्गत सौराष्ट्र देश में द्वारावती नाम की नगरी थ
इस नगरी में राजा समुद्रविजय राज्य करते थे। ये बड़े धर्मात्मा, पराक्रमशाली अ
शूरवीर थे। इनकी रानी का नाम शिवदेवी था। इनके पुत्र का नाम नेमिकुमार र
गया। नेमिकुमार बचपन से ही होनहार, धर्मात्मा और पराक्रमशाली थे। इन्हीं
वंशज कृष्ण, वलभद्र थे। ये बड़े पराक्रमशाली और शूरवीर थे। कृष्ण ने अपने भु
बल द्वारा कंस, शिशुपाल और जरासंध जैसे दुर्दमनीय राजाओं का क्षण भर में संह
कर दिया था। इनके सोलह हजार रानियाँ थीं, जिनमें आठ रानियाँ पट्ट महिषी
पद पर प्रतिष्ठित थीं। एक समय नेमिकुमार के पराक्रम को सुनकर कृष्ण के मन
ईर्ष्या उत्पन्न हुई तथा इन्होंने उनकी शक्ति की परीक्षा करने के लिये उनको अपनी स
में आमन्त्रित किया। नेमिकुमार यथासमय कृष्ण की सभा में उपस्थित हुए अ
अपनी कनिष्ठा अंगुली पर जंजीर डालकर कृष्ण आदि को झुला दिया। कृष्ण
बहुत आश्चर्य हुआ। फलतः उन्होंने अपनी पटरानियों को नेमिस्वामी के घर भेज
रानियों ने चारों तरफ से नेमिस्वामी को घेर लिया और विवाह करने के लिये प्रतिः
बद्ध किया। कृष्ण ने नेमिस्वामी का विवाह भूनागढ़ के राजा उग्रसेन की कन
राजुलमती से निश्चित कराया। वहाँ पर इन्होंने अपनी कूटनीति से पशुओं को पह
से कैद करवा दिया था। जिससे नेमिस्वामी के मयबरात के वहाँ पहुंचने पर अग्यो
के पश्चात् टीका को जाते समय पशुओं की चीत्कार नेमिस्वामी को सुनाई दी। नेमि
स्वामी को चीत्कार से वैराग्य उत्पन्न हो गया और इन्होंने पशुओं को कैद से छुड़ाय
दीक्षा ग्रहण कर गिरनार पर्वत पर नेमिस्वामी तपस्या करने लगे। राजुलमती अ
पिया नेमिस्वामी को गिरनार पर्वत पर गया हुआ जान तथा दीक्षा ग्रहण कर तप
में संलग्न हैं, समाचार सुनकर विलाप करने लगी। मातापिता के द्वारा बार-ब
समझाये जाने पर भी अन्य के साथ विवाह करने को तैय्यार न हुई। गिरनार प
पर जाकर दीक्षा ग्रहण कर तप तपने लगी। तप के प्रभाव से सोलहवें स्वर्ग
ललितांग नामक देव हुई। नेमिस्वामी आठों कर्मों को नाश कर मोक्ष पधारे।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

कवि परिचय—

ग्रन्थान्त में रचयिता ने स्वयं ग्रन्थ रचने के कारणों का विश्लेषण करते हुए अपना परिचय दिया है, जिससे उनके जीवन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

अब सुनहु मित्र बनाय बकी विधि कौन विधि बनियो भयो।
शुभ दे अन्तर वेद मजह कान्ह कुञ्ज भलो ठयो॥
तहाँ बसौ श्रावक भूरि त्रिकाल जिन पद पूजहीं।
लसि सब सब मिह परस्पर आनन्द मो मन कूंजहीं॥
तहाँ पल्लिवार इक्ष्वाकवंशी कहे का शिवगोत्रिया।
जिनदेव शास्त्रसिद्धान्त सुगुरु तीनि जिनके अति प्रिया॥
शुभ करहिं चरचा पठहिं निश दिन धरहिं सरधा जानिकै।
तिन सबनि मह इक बसत श्रावक नम कहौं बखानिकै॥
हुल्लासराय सुनाम तिनको कहत सब जन टेरिके।
तिनके जुगल सुत भयो भूपर सिद्धि सब अब पेरि के॥
शुभ जेष्ट लाल कनौजि गोविन्दराम नाम कनिष्ट को।
तिन शिशुन मह जो जेष्ट मतरंगलाल नाम कहैं सबै।
तिन लाल तनरंग के सुमित्र गुलालदस भये तबै॥
सो प्रानहुँ ते अतिहि वल्लभ सकल गुन की खानि जो।
जिन भक्ति शास्त्र जिनेश कूं त सुनि रुच करत मान जातिजो॥
न हि रहत छल बल पास तिनके क्रोध करते ना लखो।
निति देखि जैनी करत बहु विधि जैनधरम सुधा चखो॥
इत्यादि बहुगुणजुत सु खूबचालचंद तनो सदा।
इक तीसरी निवसत रहत निश दिन पलक विछुरत ना कदा॥
तिनके ही हम सों बात या विधि मित्र सूनु चित ल्याय के।
शुभ नेमचन्द्र कि चन्द्रिका अब हमहिं देहु बनाय के॥
तिन वचन अमिय समान अतिप्रिय सुने आनन्द सों भरे।
जनु जलधि बरषत सुधा बदन खेत सूदन कों खरे॥
तब शुभ विचार चितारि चित सों छन्द जह नाना धरे।
तिन हेत इह शुभ लेश कीन्हों सुनत संकट ही दरे॥
इह रहो जग बल गु विदित बल गुन कनक को भूधरा।
नभ उदधि जब लग रहौ भूतल चन्द अवर दिवाकरा॥

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

अर्थात्— कन्नौज में श्रावकों का एक समुदाय था, जो अधिकांश अपना समय जिनेन्द्र पूजा, सैद्धान्तिक चर्चा आदि धार्मिक कार्यों में व्यतीत करता था। उस समुदाय में हुल्लासराय नामक श्रावक का भी नाम था। हुल्लासराय प्रायः अपना सारा समय देव, शास्त्र, गुरु के पूजा-पाठ में तथा तत्व-चर्चा में लगाया करते थे। ये इक्ष्वाकुवंशी थे। इनकी जाति 'पल्लीवाल' और गोत्र 'शिव' था। इनके दो पुत्र थे, जिनमें जेष्ट पुत्र कनौजीलाल और कनिष्ठ गोविन्दराम थे। शुभ कर्मोदय से कनौजी लाल को पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई, जिसका नाम मनरंगलाल रक्खा गया। कनौजीलाल को अन्य पुत्ररत्नों की भी प्राप्ति हुई, किन्तु सब में जेष्ठ मनरंगलाल थे। मनरंगलाल के सुयोग्य मित्र गोपालदास थे। इन दोनों में मैत्रीभाव अत्यन्त घनिष्ट था। गोपालदास जिनेन्द्रदेव, शास्त्र और गुरु में अत्यन्त श्रद्धा रखते थे। शास्त्र प्रेमी थे। छल-कपट और क्रोध के लिये इनके अन्दर स्थान नहीं था। इनके पिता का नाम खुस्यालचन्द्र था। गोपालदास शास्त्रों का संग्रह करने के लिये हमेशा कटि-बद्ध रहते थे। इन्हीं के अनुरोध से तथा इनके वचनों को अमृत समान अत्यन्त प्रिय समझ कर मनरंगलाल ने नेमिनाथ की चन्द्रिका नाम की पुस्तक की रचना जेठ सुदी ११ गुरुवार सं० १८८०, नक्षत्र स्वाति, सूर्य उत्तरायन में पूरी की।

१— मास जेष्ठ शशि पक्ष की एकादश विचारि।
नखत स्वाति गुरुवार दिन, उत्तरायन रविसार ॥१॥
एक सहस अरु आठ सतक, वरष असीति और।
याही संवत् मो करी, पूरन इह गुण गौर ॥२॥

पुण्यास्रव कथाकोष की प्रशस्ति—

जैन इतिहास के निर्माण में ग्रन्थ-प्रशस्तियों का बड़ा महत्व है। अधिकांश ग्रन्थों में रचयिताओं ने अपने गण, गच्छ, गुरु, परम्परा एवं अपने जीवन का उल्लेख किया है। कई ग्रन्थों की अन्तिम प्रशस्ति में अनेक इतिहासोपयोगी बातें उल्लिखित हैं। दिगम्बर साहित्य की ग्रन्थ-प्रशस्तियों का अभी सम्पूर्ण संकलन नहीं हो सका है। यद्यपि जैन सिद्धान्त भवन आरा ने प्रशस्ति-संग्रह प्रथम भाग तथा अभी हाल में दि० जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी से भी प्रशस्ति-संग्रह प्रकाशित हुआ है।

पुण्यास्रव कथाकोष की प्रशस्ति में रचयिता ने स्वयं पद्यबद्ध इस अधूरे ग्रन्थ को प्राप्त तथा पूर्ण करने के कारणों का उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ में पूजादिक छः अधिकार हैं। इन अधिकारों के अन्तर्गत ५६ कथाएँ हैं। आदिपुराण आदि में जिस विषय का प्रतिपादन है, उसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर इस ग्रन्थ का

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

ए संस्कृत भाषा में रामसेन ने किया है। पं० दौलतराम ने इसका अनुवाद भाषा में किया तथा कथाओं को शृंखलाबद्ध भी। इस बचनिका को ह्र करने की इच्छा भावसिंह नामक कवि को हुई। इन्होंने चौपई आदि छन्दों बचनिका को बाँधने का पूर्ण प्रयत्न किया। आयु का अन्त और काल की ता ने इनके इस कार्य में विघ्न पैदा किया, जिससे इस कार्य को पूर्ण करने में र्थ रहे; केवल शीलाधिकार तक ही इस ग्रन्थ को लिख सके। इस अधूरे के पुण्य के प्रताप से भैरोसिंह को दर्शन हुए। भैरोसिंह के मन में इसको राने की उत्कट इच्छा उत्पन्न हुई। समय का फेर और भैरोसिंह के तीव्र शुभ य से इन्हें इस ग्रन्थ के पूर्ण कराने के साधन शीघ्र प्राप्त हो गये। इन्होंने जियराम कवि को इस ग्रन्थ के पूर्ण करने का भार सौंपा। कवि ने इस ग्रन्थ को दी २ सं० १७९२ के शुभ दिन में पूर्ण किया।

पुन्यास्रव यह कथा रिसाल। पूजादिक अधिकार विशाल॥
षट् अधिकार परम उत्कृष्ट। छप्पन कथा जास में मीष्ट॥
आदिपुराणादिक जे कहा। अभिप्राय तसु यामैं लहा॥
आचारज जिय धरि अभिलाष। कीनों तास संस्कृत भाष॥
तास बचनिका रूप सुधार। दौलतराम कथा बुधसार॥
तातैं भावसिंह निज छन्द। अरंभ कियो चौपई बन्द॥
शील अधिकार ताई उन जोड़। भेज दिया लिख ना हम ओड़॥
भला कथा हम लखिकै लिख्यो। ताकूं काल भावसिंह भख्यो॥
भैरोंदास पुन्य परकास। देखा ग्रन्थ अधूरा पास॥
मो सैं भणा सम्पूर्ण करो। आरत कछू नम नमैं धरो॥
मैं भाषा भाषू सुखमान। ज्यों कर लगै सम्पूर्ण पुराण॥
तब उन कछुक समै में खोज। मो पै भेज दिया ले चोज॥

॥ दोहा ॥

गूथौ कर्म संजोग तैं, पर सेवा में लीन।
जा छिन थिरता चित गही, वित जुत रचना कीन॥
ग्रन्थ बड़ा मो मति अल्प, ऐसा बना नियोग।
हास निवारसु सोधियो, विनउ पंडित लोग॥

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

अडिल्ल छन्द

एक हजार सात सै बानवै जानिये। चैत सुदी द्वितीया दिन नीका मानिये॥
ता दिन पूरो ग्रन्थ कियो जियराज ने। मंगल करो सकल शैली समाज ने॥

चौपई छन्द-- जैसो लिख्यो वचना लिख्ये। तैसो छन्द माहि मैं रख्यो॥
जो कछु यामें परे सन्देह। तौ तामें देखो धर नेह॥
याके पढ़ै मिथ्यात मिटाइ। काल लब्धि जो पहुँचै आइ॥
याके पढ़ै सुने बुधिमान। जिन्हैं जिनवानी सरधान॥
जो जाय धर्म ध्यान रुचि धरै। आगम पढ़न सुनन मन करै॥
आगम से सम्यक् गुण पाइ। शिव मग पग धरे चित लाइ॥

दोहा-- कर्म न भेदा आत्मा, कर्म न भेदो जोइ।
आतम पद परमात्मा, निहचैं धारौ सोइ॥
जो वांछा शिव पद धरै, राग द्वेष को गार॥
ममता तजि समता भजो, काम क्रोध को मार॥
प्रभु को सुमिरण ध्यान कर, पूजा जाप विधान।
जिन प्रणीत मार्ग विषै, मगन होउ मतिमान॥

इति पुण्यास्रव कथा-कोष भाषा चौपईबद्ध भावसिंह जियराज कृत समाप्त

प्रशस्ति के अन्त में इस प्रति के लिपिकार का नाम ऋषि हरिचन्द्र है। यह लाला ललितराम ने करायी। इस प्रति की लिपि पौष वदी ८ रविवार सम्वत् में लक्ष्मण पुरी में की गयी है।

॥ श्री ॥

त्रैलोक्य प्रदीप—

जैनागम में तीनों लोकों का वर्णन करने वाले तिलोयपण्णत्ति, त्रिलो लोकतत्व विभाग आदि कई प्राचीन ग्रन्थ हैं। प्रस्तुत त्रैलोक्य प्रदीप में पूर्वक तीनों लोकों का वर्णन किया गया है। यद्यपि इसका विषय त्रिलोक बहुत कुछ मिलता-जुलता है किन्तु संस्कृत भाषा में गणित प्रदर्शन पूर्वक ल गणित का इतना सुन्दर और विस्तार के साथ वर्णन किया गया है, जिससे इस का पूर्ण परिज्ञान हो जाता है।

इस ग्रन्थ के रचयिता इन्द्रवाम देव हैं। इन्होंने पुरवाडवंशी राजा जे पुत्र नेमिदेव के अनुरोध से इस ग्रन्थ की रचना की है। ग्रन्थ रचयिता ने स्व रचने का कारण बतलाते हुए लिखा है कि--

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

अस्त्यत्र वंशः पुखाडसंज्ञः समस्तपृथ्वीपतिमानिनीयः ।
त्यक्त्वा स्वकीयां सुरलोकलक्ष्मीं देवाऽपि इच्छन्ति हि यत्र जन्म ॥
तत्र प्रसिद्धो ऽजनि कामदेवः पत्नी च तस्याजनि नामदेवी ।
पुत्रौ तयोर्जोमनलक्ष्मणाख्यौ बभूवतु राघवलक्ष्मणाविव ॥
रत्नखनेः शशिजलनिधेरात्मोद्भवः श्रीपतेः ।
तद्वज्जोमनतो बभूव तनुजः श्री नेमिदेवाह्वयः ॥
यो बाल्ये ऽपि महानुभावचरितः सज्जैनमार्गेरतः ।
श्रीगुणभूषणक्रमनतः सम्यक्त्वचूलांकितः ॥
यस्त्यागेन जिगाय कर्णनृपतिं न्यायेन बाचस्पतिं ।
नैर्मल्येन निशापतिं सत्स्थैर्यभावेन च ॥
गांभीर्येण सरित्पतिं मलततिं सद्धर्म सद्भावनात् ।
स श्रीमद्गुणभूषणोन्नति नतो नेमिश्वरं नन्दतु ॥
तत्सत्कारपुरस्कृतेन सललं तज्जैनता दर्शनात् ।
सन्तुष्टेन तदार्जवादि सगुणैर्हृष्टेन पुष्टेन च ॥
तस्य प्रार्थनया सुसंस्कृतवचो बंधेन सन्निर्मितो ।
ग्रन्थोऽयं त्रिजगत्स्वरूपकथनः सत्पुण्यनिर्मापणः ॥

अर्थात् – पुरवाड वंश में समस्त राजाओं के द्वारा बंदनीय कामदेव नाम का राजा हुआ था। उनकी पत्नी का नाम नामदेवी था। इनके जोमन और लक्ष्मण नामक दो पुत्र हुए। जोमन का नेमिदेव नामक पुत्र हुआ। यह बचपन से ही जैन धर्म का माननेवाला सम्यक्त्व चूड़ामणि था। इसने अपने दान से कर्ण को, न्याय से वृहस्पति को, निर्मलता से चन्द्रमा को और स्थिरता और गंभीरता से समुद्र को जीत लिया था। इस धर्मात्मा, न्यायनिपुण राजा की प्रार्थना से संस्कृत भाषा के अनुष्टुप छन्दों में तीनों लोकों का वर्णन करने वाला यह ग्रंथ लिखा गया है।

कवि ने अपने वंश को नैगमसंज्ञक वंश बतलाया है। इन्द्रवामदेव प्रतिष्ठाचार्य, धर्मात्मा, जिनभक्तपरायण, नाना शास्त्रों का पारंगत और करणानुयोग के मर्मज्ञ विद्वान थे। इन्होंने ग्रन्थारम्भ में चतुर्विंश तीर्थंकर, नेमिचन्द्र, त्रैलोक्यकीर्ति धर्माकर मुनि और वीरसेनाचार्य आदि को स्मरण किया है। ग्रंथ रचने की प्रतिज्ञा करते हुए बताया है "त्रैलोक्यसारमालोक्य ग्रन्थं त्रैलोक्यदीपकं" अर्थात् त्रिलोक सार नामक ग्रन्थ का सार लेकर इस ग्रन्थ को रचा जा रहा है। इस ग्रन्थ में तीन

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

अधिकार हैं-- अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक। प्रथम अधिकार में २०५ श्लोक, द्वितीय में ६१६ श्लोक और तृतीय अधिकार में ४६५ श्लोक हैं।

आरम्भ में ही विषय प्रारम्भ करते हुए बताया है कि आकाश के मध्य में अणु के समान असंख्यात प्रदेशी यह लोक है। इसमें छह द्रव्यों का-- जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल संघात पाया जाता है। इसलिए यह लोक का मान लौकिक और लोकोत्तर दो तरह का है।

लौकिक मान एक दश शत सहस्र आदि दश गुणोत्तर है। लोकोत्तर मान चार प्रकार का है— द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव। द्रव्यमान के दो भेद हैं-- संख्योपमा, संख्यात्मक। संख्यात्मक के तीन भेद हैं-- संख्यात, असंख्यात और अनन्त। संख्यात जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार का है। असंख्यात और अनन्त तीन-तीन प्रकार के हैं-- परीत, युक्त, द्विगुण। इनके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद से २१ भेद होते हैं। संख्यात ज्ञान के निमित्त अनवस्था, शलाका, प्रतिशलाका और महाशलाका इस तरह इन चार कुण्डों की कल्पना कर संख्यानयन किया है। काल प्रमाण का वर्णन बहुत विस्तार से किया है। पूर्वांग, पूर्व, पर्वांग, पर्व, नयुतांग, नयुतं, कुमुदांग, कुमुदं, पद्मांग, पद्मं, नलिनांग, नलिन, कमलांग, कमलं, तुडिदांग, तुडिदं, अडडांग, अडडं, अममांग, अममं, हाहाहूहूअंग, हाहाहूहू, विद्युल्लता, लतांग, लता, महालतांग, महालता, शीघ्रप्रकंपितं, हस्तप्रहेलिका और अचूलात्मक आदि काल परिमाणों को अंकसंख्या प्रदर्शनपूर्वक बताया है। अंकसंख्या की दृष्टि से ये संख्याएँ अत्यन्त महत्व पूर्ण हैं।

लोक के नाना प्रकार के आकार बतला कर गणितानयन किया है, जो कि नवीन न होते हुए भी महत्त्वपूर्ण हैं। नरकों के इन्द्रक, श्रेणीबद्ध, उभय और प्रकीर्णक बिलों का आनयन गणित क्रिया के साथ बहुत ही सुन्दर ढंग से किया है। लम्बाई, चौड़ाई के अतिरिक्त बिलों की स्थूलता का आनयन भी किया है, जो एक नवीन गणित शैली है। अधोलोक व्यावर्णन के अन्त में नेमिदेव की यशवृद्धि की आकांक्षा करते हुए बताया है।

पद्मावतीपुत्रपवित्रवंशः क्षीरोदचंद्रामलयोः यथास्य।
तनोरुहः श्रीजिनपादसेवी स नेमिदेवश्चिरमत्र जीयात्॥

मध्यलोक का वर्णन करते हुए द्वीप और समुद्रों के वलय, व्यास, सूचीव्यास, सूक्ष्म-परिधि, स्थूलपरिधि, सूक्ष्मफल, स्थूलफल आदि का गणित प्रदर्शन पूर्वक आनयन किया गया है। गणितानयन प्रक्रिया की दृष्टि से यह प्रकरण रोचक और ज्ञानवर्द्धक

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

है। आगे चलकर जम्बूद्वीप के षड्कुलाचल और सप्त क्षेत्रों का गणित बहुत विस्तार और स्पष्ट रूप से दिया गया है। श्री, ह्री, आदि देवियों के मन्दिरों के चित्र, उत्सेध, आयाम आदि का प्रमाण, परिधि का प्रमाण एवं अंगरक्षक अनीकादि देवों की संख्या बहुत विस्तार से बतायी गयी है। पद्म, महापद्म आदि छहों सरोवरों का सचित्र वर्णन तथा आयाम, गाम्भीर्य, व्यास, फल आदि का प्रमाण गणित दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। विजयार्द्ध के उत्तर, दक्षिण नगरों की नामावली तथा उनका आयाम, विस्तार आदि बतलाया गया है। सुमेरुपर्वत तथा उसके अवयव भद्रशाल, नन्दन सौमनस, पाण्डुकवन आदि का गणित भी विस्तार पूर्वक सचित्र बतलाया गया है। गणितज्ञों के लिये यह प्रकरण मनोरंजक ही नहीं, बल्कि विशेष ज्ञानवर्द्धक है। पूर्वविदेह और पश्चिम विदेह के देवारण्य और भूतारण्य के विस्तार आदि का निरूपण करने के अनन्तर बताया है।

वर्षन्ति मेघवृन्दानि काले काले यथायथम्।
दुर्भिक्षं दैन्यता नास्ति नास्ति चौरादिकं भयम्॥
कुदेवः कुत्सितो लिङ्गी कुशास्त्रं न च गर्विता।
शलाकापुरुषाः सन्ति सन्ति केवलिनः सदा॥

अर्थात्—इन दोनों वनों में सदा यथासमय वर्षा होती है। दुर्भिक्ष, दैन्य, आधि, व्याधि, चौर आदि का अभाव है। कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र वहाँ पर नहीं हैं। सर्वदा श्रेसठ शलाका पुरुष और केवली विद्यमान रहते हैं।

अनन्तर भरतक्षेत्र के उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी के षट्कालों का वर्णन करते हुए चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण और चौबीस तीर्थंकरों की आयु, शरीरोन्नति, विभूति आदि का संदृष्टि प्रदर्शन पूर्वक सुन्दर वर्णन किया है। मध्यलोक व्यावर्णन में व्यास, परिधि, सूचीफल, क्षेत्रफल, घनफल आदि के आनयन के लिये कई करणसूत्र भी दिये हैं तथा इन करणसूत्रों का सोदाहरण गणित विस्तार भी बतलाया गया है। अन्त में एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि संज्ञीपञ्चेन्द्रिय पर्यन्त समस्त जीवों की आयु बतलायी गयी है।

ऊर्ध्वलोक व्यावर्णन नामक प्रकरण के प्रारम्भ में भवनवासी देवों के ग्रह, आवास, निलय आदि का वर्णन करने के पश्चात् इनकी ऋद्धि, इन्द्र तथा आदिपरिषद, मध्य- और बाह्यपरिषद की विभूति का विस्तार सहित वर्णन किया है। यों तो यह शास्त्री; पृ. तत्त्वार्थसूत्र श्वेताम्बर परम्पर से प्रायः मिलता जुलता है, किन्तु भेद-प्रभेद और कथनशैली में भवनवासियों की देवियों, उनकेनिवासस्थान आदि के सम्बन्ध का

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

विस्तार से प्रभावोत्पादक वर्णन किया गया है। व्यन्तर देवों के वर्णन में आकाशोत्पन्ना, प्रीतिङ्करा, भुजगा, महागंधा, गंधाका, अनुत्पन्ना, उत्पन्ना, कुसुमाण्ड, अन्तर्वासिन, दिग्वासिन, नित्योत्पादक आदि भेदों का बड़े ही विस्तार के साथ वर्णन किया है। जोतिर्लोक व्यावर्णन में ज्योतिषियों के विमान, बिम्ब आदि का आयाम, विस्तार और स्थूलता प्रभृति बातों का विस्तार से विवेचन किया गया है। आगे चलकर भरत, हिमवत्, हैमवत, महाहिमवत्, हरिवर्ष, निषध, विदेह, नील, रम्यक, रुक्मी, हैरण्यवत, शिखरी और ऐरावत क्षेत्र की ताराओं का अंकसंदृष्टि द्वारा विवेचन किया गया है। सूर्य और चन्द्रमा के प्रकाश और प्रभाव का गणित भी जानकारी के लिये उत्तम है। इनकी शीघ्र, मन्द और मध्य गतियों का विवेचन भी ज्योतिष शास्त्र की दृष्टि से ज्ञान वर्द्धक है। कृतिका से नक्षत्र गणना कर नक्षत्रों की ताराओं और उनकी आयु आदि का कथन भी जानकारी बढ़ाने वाला है। ऊर्ध्वलोक व्यावर्णन में सोलह स्वर्गों का गणित पूर्वक विस्तार से वर्णन किया है। इन्द्रक, श्रेणीबद्ध, प्रकीर्णक विमानों का सचित्र वर्णन करते हुए इनके आयाम आदि सगणित बतलाये गये हैं। इस प्रकरण में जानकारी के लिये अनेक बातें हैं।

इस प्रकार यह ग्रन्थ करणानुयोग का अनूठा है। प्रकाशन संस्थाओं को ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के प्रकाशन की ओर ध्यान देना चाहिये। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता संदृष्टियों की है। समग्र ग्रन्थ में लगभग १५० संदृष्टियाँ हैं।

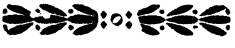

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

साहित्य-समीक्षा

वर्णी जैनग्रन्थमाला काशी के तीन प्रकाशन—

पञ्चाध्यायी:— टीकाकारः व्या० वा० साहित्यसूरि पं० देवकीनन्दन सिद्धान्त-शास्त्री; सम्पादकः श्री पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री; पृष्ठसंख्याः ५६+३३९ और मूल्य नौ रुपये।

स्वर्गीय व्याख्यान वाचस्पति पं० देवकीनन्दन शास्त्री ने पञ्चाध्यायी का हिन्दी अनुवाद आज से बहुत पहले किया था तथा यह ग्रन्थ शास्त्राकार प्रकाशित भी हुआ था; किन्तु प्रस्तुत संस्करण में अनेक विशेषताएँ हैं। श्री पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री ने विशेषार्थ लिखकर इस ग्रन्थ की उपयोगिता में चार चाँद लगा दिये हैं। शंका, समाधानों के द्वारा ग्रन्थ का विषय बिल्कुल स्पष्ट हो गया है। ग्रन्थारम्भ में ५२ पृष्ठों की विस्तृत प्रस्तावना में ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषयों की आलोचना उक्त पंडित जी ने बड़ी विद्वत्ता के साथ की है। ग्रन्थकर्त्ता के 'दरिद्र और श्रीमान् कर्म कृत हैं' इस विषय की समीक्षा अपने अध्ययन के आधार पर की है तथा आपके द्वारा निकाला गया निष्कर्ष बहुत कुछ अंशों में ठीक जँचता है। यद्यपि आपने कोई प्रबल शास्त्रीय प्रमाण नहीं दिया है, फिर भी निष्कर्ष बुद्धि ग्राह्य है। पंडित जी प्रस्तावना में वेदमीमान्सा करते हुए वेद के कार्य का जो निर्देश किया है, वह आपके शास्त्रीय चिन्तक का द्योतक है। जैन कर्म मान्यता के अधार पर आपके द्वारा निकाला गया यह परिणाम प्रत्येक विचारक को अपील करेगा। इसी प्रकार व्यवहार और निश्चय नय के सम्बन्ध में अनेक ग्रन्थों का प्रमाण देते हुए सुन्दर और प्रामाणिक निष्कर्ष निकाले हैं।

निमित्त और उपादान की चर्चा की गुन्थी सुलझाने का प्रयत्न पंडित जी ने किया है। अनेक लौकिक उदाहरण भी दिये हैं; परन्तु चर्चा अधूरी सी है, इसको और थोड़ा विस्तृत करने के आवश्यकता थी। प्रस्तावना ज्ञानवर्द्धक और पाण्डित्यपूर्ण है। वर्णी ग्रन्थमाला ने पञ्चाध्यायी का यह सर्वाङ्ग सुन्दर संस्करण प्रस्तुत किया है। स्वाध्याय प्रेमियों को लाभ उठाना चाहिये।

तत्त्वार्थ सूत्र (हिन्दी विवेचन)—विवेचन कर्त्ता: श्री पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्री; पृष्ठ संख्या: ३२×४६१; मूल्य: पाँच रुपये।

तत्त्वार्थसूत्र जैन समाज के सभी फिरकों में मान्य है। इसका विस्तृत विवेचन श्वेताम्बर परम्परा के आधार पर श्री पं० सुखलाल जी ने लिखा था, उसी से प्रेरणा

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

प्राप्त कर दिगम्बर परम्परा के अनुसार यह विवेचन प्रस्तुत किया गया है। प्रारम्भ में विवेचन कर्त्ता ने तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता के सम्बन्ध में अपना नया ऐतिहासिक अनुसन्धान उपस्थित किया। आपने सूत्रकार गृद्धपिच्छाचार्य को सिद्ध किया है तथा उमास्वाति को श्वेताम्बर तत्त्वार्थाधिगम भाष्य का कर्त्ता इनसे भिन्न व्यक्ति बताया है। प्रस्तावना छोटी होती हुए भी तथ्यपूर्ण है।

श्री पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्री अध्ययनशील, सिद्धान्त के मर्मज्ञ और दार्शनिक विद्वान् हैं। इस विवेचन में आपकी प्रखर प्रतिभा के सर्वत्र दर्शन होते हैं। विवेचन की शैली सरल, सुबोध, रुचिवर्धक एवं हृदय गम्य है। पंडित जी ने इस विवेचन द्वारा एक बड़ी कमी की पूर्त्ति की है। जैन सिद्धान्त के समुद्र इस सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन के प्रचार की परमावश्यकता है। प्रत्येक मन्दिर और पुस्तकालय में तो इसे रखना ही चाहिये। स्वाध्याय प्रेमियों को भी तत्त्वार्थ के रहस्य को समझने में यह विवेचन अत्यधिक सहायक होगा। छपाई-सफाई, गेटप आदि उत्तम हैं।

अपभ्रंश-प्रकाश:—लेखकः श्री देवेन्द्र कुमार एम० ए०, साहित्याचार्य; प्रस्तावना लेखकः श्री पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र; पृष्ठ संख्याः ८+७+२२४; मूल्यः तीन रुपये।

हिन्दी भाषा का निकास अपभ्रंश से हुआ है; अतः हिन्दी भाषा के अध्ययन के लिये अपभ्रंश भाषा का व्याकरण जानना आवश्यक है। श्री देवेन्द्रकुमार उदीयमान लेखक और विचारक हैं, आपकी लेखनी से प्रसूत रचना हिन्दी भाषा के अध्ययन में विशेष सहायक होगी। वर्णी ग्रन्थमाला के संचालक उपर्युक्त उच्चस्तर के उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशन के लिये धन्यवादार्ह हैं।

श्री रायचन्द्र शास्त्र माला के दो प्रकाशन—

प्रथमरति प्रकरण-- रचयिता उमास्वाति; सम्पादकः श्री प्रो० राजकुमार जैन साहित्याचार्य; प्रकाशकः श्री परमश्रुतप्रभावक मंडल, जौहरी बाजार बम्बई; मूल्य छः रुपये।

इस ग्रन्थ में २२ अधिकार हैं। इन अधिकारों में कषाय, इन्द्रिय, राग द्वेष आदि को जीतने का मार्ग बतलाया गया है। इसका विषय तत्त्वार्थसूत्र के विषय से बहुत-कुछ साम्य रखता है। संसार के विषयों में लिप्त व्यक्ति के लिये विरक्ति प्राप्त करने में इस ग्रन्थ का स्वाध्याय परमोपयोगी होगा। इसका प्रत्येक श्लोक ललित, सरस और वैराग्य से ओत-प्रोत है। माध्यस्थ्य, वैराग्य, विरागता, शान्ति, उपशम, प्रशम दोष-क्षय और कषाय विजय आदि वैराग्य के पर्यायवाची नाम हैं। जब तक व्यक्ति

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

विकारों के आधीन रहता है, परतन्त्र है; जब उसकी प्रवृत्ति आत्मोन्मुख हो जाती है, वह स्वावलम्बी बन जाता है। रागादि का बिल्कुल शमन हो जाना प्रशम है, इससे बढ़कर अन्य कोई सुख और शान्ति नहीं है। जीव के लिये अशान्ति का कारण राग ही है। आचार्य ने इसके कई नाम बतलाये हैं। वास्तव में राग के अभाव में जो आनन्दानुभूति होती है, वह वर्णनातीत है, शाश्वत है और परमोपादेय। इस ग्रन्थ में इसी आनन्दानुभूति की प्राप्ति का उपाय बतलाया है।

अनुवाद प्रो० राजकुमार जी साहित्याचार्य ने बहुत ही सुन्दर किया है। हृदयंगम करने में विशेषार्थ तथा हरिभद्रसूरि की संस्कृत टीका का भाषानुवाद विषय समझने में बड़े सहायक हैं। इस सुन्दरतम अनुवाद के लिये उदीयमान लेखक साधुवादार्ह हैं। छपाई-सफाई अच्छी है। स्वाध्याय प्रेमियों को मंगाना चाहिये।

न्यायावतार—रचयिताः आचार्य सिद्धसेन दिवाकर; अनुवादकः पं० विजयमूर्त्ति शास्त्राचार्य, एम० ए०; मूल्यः पाँच रुपये।

यह न्याय शास्त्र का ग्रन्थ है। इसमें प्रमाण, प्रमेय का सुन्दर ढंग से विवेचन किया गया है। इसमें कुल ३२ कारिकाएँ हैं। अनुवादक ने मूल कारिकाओं और सिद्धर्षिगणि की संस्कृत टीका का भाषानुवाद किया है। न्याय शास्त्र के अनुवादक को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, इस कारण अनुवाद की भाषा प्रायः उलझी रह जाती है। इस ग्रन्थ के अनुवाद में पर्याप्त श्रम किया गया है, तथा भाषा की उलझन को बहुत कुछ अंशों में दूर करने का प्रयास सफल रहा है। न्याय शास्त्र के जिज्ञासुओं के लिये ग्रन्थ उत्तम है। छपाई-सफाई, गेटप आदि अच्छे हैं।

प्रशस्ति संग्रह— सम्पादकः श्री कस्तूर चन्द कासलीवाल एम० ए० शास्त्री; प्रकाशकः प्रबन्ध कारिणी कमेटी, श्री दि० जैन अतिशय क्षेत्र महावीर जी; मूल्य छः रुपये।

जैन इतिहास के निर्माण में ग्रन्थ प्रशस्तियाँ बड़ी उपयोगी हैं। दिगम्बर जैन समाज में एक प्रशस्तिसंग्रह जैन-सिद्धान्त-भवन आरा से प्रकाशित हुआ था और दूसरा प्रशस्तिसंग्रह यह है। इसमें आये शास्त्र भंडार तथा जयपुर के संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी भाषा के ग्रन्थों की प्रशस्तियों का संकलन किया गया है। प्रस्तावना में सम्पादक ने अनेक ज्ञातव्य बातों के साथ प्रशस्ति संग्रह में आये हुए आचार्यों, लेखकों एवं कवियों का संक्षिप्त परिचय दिया है। इस प्रशस्ति संग्रह से कई नवीन ग्रन्थों का पता चलता है। अपभ्रंश भाषा का विपुल साहित्य अभी अप्रकाशित पड़ा है, इसके प्रकाशन की व्यवस्था शीघ्र होनी चाहिये। प्रशस्तियों

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

का सम्पादन सुन्दर हुआ है। यदि सम्पादक लिपिकर्त्ताओं की प्रशस्तियों के इतिहास के सम्बन्ध में कुछ और प्रकाश डालते तो इस प्रकाशन में चार-चाँद लग जाते। हम इस बहुमूल्य ऐतिहासिक संकलन के लिये उदीयमान प्रतिभाशाली सम्पादक तथा महावीरजी तीर्थक्षेत्र कमेटी को धन्यवाद देते हैं, जिनके प्रयास से प्रशस्तियों का यह संकलन प्रकाशित हुआ है। प्रत्येक अन्वेषक विद्वान् और पुस्तकालय को हमें मंगाना चाहिये।

जैनधातु— प्रतिमालेख (प्रथम भाग)— सम्पादकः मुनि कान्तिसागर; प्रकाशकः मंत्री, श्री जिनदत्तसूरि ज्ञानभंडार, सूरत।

प्रारम्भ में मुनिजी की एक छोटी सी प्रस्तावना है, जो अत्यन्त ज्ञानवर्द्धक है। आपने इसमें जैन धातु प्रतिमाओं के संक्षिप्त इतिहास की रूप-रेखा प्रस्तुत की है। इस संग्रह में संवत् १०८० से सं० १९५२ तक की धातु प्रतिमाओं के लेखों का संकलन किया गया है। इसमें कलकत्ता, बम्बई, अमरावती, भद्रावती, नासिक, बालापुर, नागपुर और सम्मेदशिखर आदि स्थानों की श्वेताम्बर जैन धातु प्रतिमाओं के ३६९ लेख संग्रहीत किये गये हैं। परिशिष्ट में हस्तलिखित एक गुटके के आधार से सिद्धाचल की नव टोंकों के प्रतिमा लेख भी अविकल रूप से दिये गये हैं। अन्त में लेखों में आये हुए आचार्य, प्रतिष्ठायक मुनियों का नाम तथा गच्छ और नगरों के नाम भी दिये हैं, जिससे इस संकलन की उपयोगिता कई गुनी बढ़ गयी है। मुनि जी पुरातत्त्व और कला के मर्मज्ञ विद्वान् हैं, उनके द्वारा इसका सम्पादन सर्वाङ्गीण सुन्दर हुआ है। इतिहास-प्रेमियों को इससे लाभ उठाना चाहिये।

नेमिचन्द्र शास्त्री

भारत धर्म महामण्डल वर्धा के दो प्रकाशन—

समाज और जीवन— सम्पादकः जमनालाल जैन साहित्यरत्न; मूल्य एक रुपया।

विचारशील लेखों का यह संग्रह पर्याप्त सुन्दर बन पड़ा है। भाव और भाषा दोनों ही दृष्टियों से 'सुख और शान्ति' शीर्षक निबन्ध हमें बहुत रुचा है। गहन विषय का इतनी चलती भाषा में प्रतिपादन करना, महात्मा भगवानदीन जैसे कुशल कलाकार का ही चमत्कार है। वास्तव में हमलोग सुख-शान्ति नहीं चाहते, बल्कि उसकी बिडम्बना करते हैं। यों तो सभी निबन्ध प्रशंसनीय हैं, पर उदाहरण के लिये उपर्युक्त निबन्ध ही चुना है। राजमल ललवानी के निबन्ध भी हमारे जीवन की

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जड़ता को दूर करने में पर्याप्त सहायक होंगे। संस्कार समय की देन हैं, परिस्थितियों की देन हैं, पर कुछ संस्कार सदियों से लिपट कर हमें जड़ बनाये हैं, पर आज के युग में उन सबका कोई उपयोग नहीं है। इस पुस्तक के सभी निबन्धों के पीछे पर्याप्त चिन्तन है। छपाई-सफाई, गेटप आदि अच्छे हैं।

जीवन जौहरी— लेखक: श्री रिषभदास रांका; सम्पादक: जमनालाल जैन साहित्यरत्न; मूल्य एक रुपया चार आना।

प्रस्तुत पुस्तिका में श्री रिषभदास रांका ने अपने भाई के नाम जो बी० कम० पास कर जीवन-संग्राम में प्रवेश कर रहे हैं, पत्र लिखे हैं। स्व० श्री जमनालाल बजाज के जीवन-संस्मरण पत्र में लिख-लिख कर रांकाजी ने अपने भाई को उपदेश-संबल दिया है। उदाहरण के लिये घटनाओं का चुनाव बहुत समीचीन है। सत्य और अहिंसा का दैनिक जीवन में प्रयोग स्व० बजाज जी ने किस सफलता से किया, इसके प्रचुर उदाहरण पुस्तक में है। संस्मरणों द्वारा मनुष्य जीवन में बहुत कुछ सीख सकता है, इस दृष्टि से यह पुस्तक उपयोगी है। पुस्तक को पत्रावली में लिखकर रांका जी ने संस्मरणों को प्रभावशाली बना दिया है। छपाई अच्छी है।

प्रो० राजेश्वरीदत्त मिश्र एम० ए०

समाज मनोविज्ञान के कुछ पहलू— लेखक: प्रमोद कुमार एम० ए०; प्रकाशक: सरला पुस्तक माला, जमशेदपुर; मूल्य: पाँच रुपये।

हिन्दी भाषा में समाज मनोविज्ञान पर यह प्रथम प्रयास है। मनोविज्ञान के विद्यार्थियों के लिये तो यह लाभदायक है ही, साथ ही रोचक शैली में होने के कारण साधारण पाठकों के लिये भी उपादेय है। कोई भी पाठक इसके द्वारा अपने व्यावहारिक जीवन में बहुत कुछ लाभ उठा सकता है। लेखक का वैज्ञानिक और प्रगतिशील दृष्टिकोण प्रशंसनीय है। सामाजिक विषयों पर यद्यपि अधिक वैज्ञानिक विचार नहीं किया है फिर भी हिन्दी भाषा में इस पुस्तक का महत्व है।

—प्रो० रामनरेश सिंह एम० ए०

भारतीय साहित्य सदन की प्रकाशित चार पुस्तिकाएँ—

आत्मदर्शन (प्रथम भाग)—लेखक: श्री प्रो० पन्नालाल धर्मालङ्कार काव्यतीर्थ; पृष्ठ संख्या ८०; मूल्य: आठ आने।

इसमें संवाद द्वारा णमोकारमन्त्र, सदाचार, धर्म, सप्तव्यसन, पाँच पाप आदि को परिष्कृत आधुनिक भाषा में समझाया है। यह छात्रों के लिये विशेषोपयोगी है। चरित्र

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

निर्माण और धार्मिक ज्ञान कराने के लिये यह पुस्तक विशेष कर लिखी गयी है, इससे एक अभाव की पूर्ति हो जाती है। लिखने का ढंग नया है। छात्र इस पुस्तक को बड़ी रुचि से पढ़ेंगे। ऐसी उपयोगी पुस्तक का पठन क्रम में शामिल होना लाभदायक होगा। छपाई सफाई भी अच्छी है, किन्तु प्रूफ संशोधन की असावधानी यत्र तत्र नजर आती है। जैसे--पृष्ठ ८० में मोक्षमर्गिस्य, तद्गुणलब्धये आदि। द्वितीय संस्करण में भाषा को सरल तथा पारिभाषिक शब्दों के बोझ को हल्का करना चाहिये। आत्म दर्शन नाम कुछ क्लिष्ट सा है, इसको भी बदलने की आवश्यकता है।

भक्तामर स्तोत्र सार्थ--अनुवादक : श्री पं० अमृतलाल जी साहित्यदर्शनाचार्य; पृष्ठ संख्या ४+४८; मूल्य : छह आने।

इसमें संस्कृत श्लोकों के नीचे हिन्दी पद्यानुवाद, अन्वय, शब्दार्थ और भावार्थ दिया गया है। प्रारम्भ में पं० कैलाश चन्द्र जी शास्त्री, प्रधानाध्यापक-- श्री स्याद्वाद महाविद्यालय बनारस का प्राक्कथन है। जिसमें श्वेताम्बर परम्परा में प्रचलित ४४ और दिगम्बर परम्परा में प्रचलित ४८ पद्यों के रहस्यों को बतलाया है। श्री पं० अमृतलाल जी साहित्य व दर्शन के विद्वान् ने इनका अनुवाद किया है। प्रत्येक श्लोक का विभक्ति के अनुसार अर्थ लिख कर नीचे भावार्थ में विषय को स्पष्ट कर दिया गया है। श्री पं० अमृत लाल जी दर्शन व साहित्य के विद्वान हैं, उनकी इस विद्वत्ता की छाप इस अनुवाद पर स्पष्ट है। अब तक के प्रकाशित भक्तामर के हिन्दी अनुवादों में यह निस्संन्देह प्रामाणिक अनुवाद है। आचार्य मानतुङ्ग के दो श्रेष्ठ चित्रों से प्रस्तुत संस्करण को और भी चित्ताकर्षक बना दिया है। यद्यपि कला की दृष्टि से दोनों ही चित्रों में समचतुरस्र संस्थान का अभाव है। जंजीर से जकड़े हुए चित्र में कुहनी से हाथ तक का भाग सम नहीं है। मुख पृष्ठ से चित्र में भी हाथ जोड़ने की मुद्रा में अस्वाभाविकता है। फिर भी इस सुन्दर संस्करण के लिये प्रकाशक धन्यवाद के पात्र हैं।

दीपमालिका विधान-- सम्पादक : श्री प्रो० पन्नालाल धर्मालंकार काव्यतीर्थ; पृष्ठ संख्या: २ + १३ + ४८; मूल्य: आठ आने।

इसमें स्तोत्र और दीपमालिका सम्बन्धी पूजाओं का संकलन है। यद्यपि इसमें सायंकालीन दीपमालिका के पर्व का संक्षिप्त विधान हैं, फिर भी बही खाते आदि की पूजा तथा अन्य तत्सम्बन्धी कार्यों की विशेष क्रियाओं का अभाव खटकता है। हमें आश्चर्य इस बात का है कि क्रिया-काण्ड के विशेष प्रोफेसर साहब ने नवीन बही खातों के संस्कार के सम्बन्ध में प्रकाश नहीं डाला, फिर भी सामान्य पाठकों के

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

लिये यह विधान उपयोगी है। अगला संस्करण संशोधन सहित प्रकाशित होने की आवश्यकता है।

मोक्षशास्त्र— अनुवादक : प्रो० पन्नालाल धर्मालङ्कार काव्यतीर्थ; पृष्ठ संख्याः २३ + ३५ + ३५ + ३८९; मूल्यः दो रुपये।

प्रारम्भ में ख्याति प्राप्त दार्शनिक विद्वान् प्रो० बलदेव उपाध्याय एम० ए० की प्रस्तावना है, जिसमें आपने आचार मार्ग और ज्ञानमार्ग पर जोर देते हुए आचार मार्ग के लिये ज्ञानमार्ग की अत्यन्त आवश्यकता बतलायी है तथा दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में प्राप्त मोक्षशास्त्र की टीकाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने पर जोर दिया है। आपका अनुमान है कि दिगम्बर परम्परा की रचनाएँ श्वेताम्बर परम्परा की रचनाओं से प्राचीन है। मोक्षशास्त्र के अब तक अनेक संस्करण निकल चुके हैं, प्रत्येक संस्करण की अपनी-अपनी कुछ न कुछ विशेषता रहती है। इस संस्करण को प्रो० सा० ने अंग्रेजी पढ़नेवाले छात्रों के लिये उपयोगी बनाना चाहा है। परन्तु हमारा यह ख्याल है कि ऐसे छात्रों की मनोवृत्ति का अध्ययन कर यदि प्रोफेसर सा० सरल और सुबोध भाषा में उपर्युक्त विषय का ज्ञान कराने के लिये कोई नवीन पुस्तक लिखते तो ज्यादा लाभ होता। हमारे सम्मान्य विद्वानों को प्रकाशित साहित्य के अनुवाद की ओर न झुक कर अब नवीन साहित्य के निर्माण या पुरातन अप्रकाशित साहित्य के प्रकाशन की ओर लगना चाहिये।

प्रस्तुत संस्करण के गेटप और मुद्रण की हम प्रशंसा करते हैं। प्रूफ सम्बन्धी अशुद्धियाँ इस ग्रन्थ माला के सभी प्रकाशनों में है। स्वाध्याय प्रेमियों को मंगा कर लाभ उठाना चाहिये।

माधवराम न्यायतीर्थ

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

सम्पादकीय

आगामी अंक--श्रीदेवकुमाराङ्क

हम अपने अतीत का इतिहास जानने के लिये अधिक उत्सुक रहते हैं; क्योंकि वर्तमान की अपेक्षा अतीत हमें अधिक प्रिय होता है। हम अतीत के गौरव द्वारा अपने वर्तमान को गौरवमय बनाना चाहते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक देश, समाज और राष्ट्र अपने उज्वल अतीत के कणों को एकत्रित कर वर्तमान का निर्माण करता है। जिस जाति का अतीत जितना प्रकाशमान होता है, उसका वर्तमान और भविष्य भी उतना ही समुज्ज्वल।

जैन समाज का भी अतीत अत्यन्त प्रकाशमान और गौरवशाली है; परन्तु इसके क्रमबद्ध इतिहास का निर्माण अभी होना शेष है। यद्यपि सुदूर अतीत के इतिहास सृजन की ओर अनेक जैन विद्वान् और जैन संस्थाएँ प्रयत्नशील हैं; परन्तु खेद के साथ लिखना पड़ता है कि निकट अतीत के इतिवृत्तों के संकलन की ओर जैन समाज का ध्यान अभी नहीं गया है। इस बीसवीं शताब्दी में जैनधर्म और उसके अनुयायियों की गतिविधि क्या रही है? समाज के कर्णधार कौन-कौन व्यक्ति हुए और उन्होंने समाज का संचालन कैसा किया? किस दिशा में किस प्रकार प्रगति की है? उन्नति के लिये कौन-कौन आन्दोलन किये गये हैं तथा उनमें कहाँतक सफलता और असफलता मिली है? आदि इतिवृत्तों के संचय की ओर हमारा बिल्कुल ध्यान नहीं गया है। इस बीसवींशती के अर्धशतक की ओर हमने कभी देखने का प्रयत्न नहीं किया है। यद्यपि विगत पचास वर्षों के इतिहास निर्माण के लिये हमारे पास प्रामाणिक सामग्री मौजूद है तथा जीवित वृद्ध व्यक्तियों की जुबानी भी इतिहास निर्माण के बहुत से उपकरण प्राप्त हो सकते हैं। आज यह सामग्री सुलभ है, पर कुछ ही दिनों के बाद यही ऐतिहासिक सामग्री अन्धकाराच्छन्न हो जायगी। जैसे आज सुदूर अतीत के इतिहास निर्माण के लिये पुरातन खण्डहरों को झाँकना पड़ रहा है, तथा जीर्ण-शीर्ण ग्रन्थों के पन्नों को टटोलना पड़ रहा है; उसी प्रकार सौ-दो सौ वर्ष के बाद ही इस शतक के इतिहास के निर्माण के लिये भी हमें जी-तोड़ श्रम करना पड़ेगा। आज इस कार्य को हम अल्पशक्ति और अल्प श्रम से कर सकते हैं, भविष्य में हमें इसके लिये अपनी अधिक शक्ति और श्रम लगाना पड़ेगा।

लब्ध प्रतिष्ठित विद्वान् श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्र जी बनारस का ध्यान इस ओर गया था। उन्होंने जैन समाज के इस अर्धशतक के इतिहास को लिखने के लिये

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

साधन-सामग्री एकत्रित की थी तथा श्री जैन-सिद्धान्त-भवन आरा से पुरानी पत्रिकाओं की फाइलें भी मंगवाई थी। इस विषय पर उक्त पंडितजी के दो-तीन फुटकर निबन्ध भी जैन सन्देश में प्रकाशित हुए थे; परन्तु अपनी उलझी हुई परिस्थितियों के कारण उन्होंने इस महत्वपूर्ण कार्य को बीच में ही छोड़ दिया।

'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' के परिवार ने इधर यह निर्णय किया है कि इस अर्धशतक में जितने प्रमुख समाज सेवक हुए हैं; जिन्होंने समाज में जीवन ज्योति प्रकाशित की है, उन व्यक्तियों के इतिवृत्त एवं सेवाओं के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोणों से निबन्ध संकलित कर विशेषाङ्क प्रकाशित किये जाँय। अपने इस निर्णय के अनुसार 'भास्कर' की अगली किरण 'श्रीदेवकुमाराङ्क' नाम से जैन क्षितिज पर उदित होगी। स्वर्गीय दानवीर श्री बाबू देवकुमार जी का जन्म आरा नगर में चैत्र सुदी ८ सं० १९३३ में धनी-मानी, परिवार में हुआ था। आपके पिता का शुभ नाम श्रीमान् बाबू चन्द्रकुमार जी था और पितामह का नाम श्रीमान् पण्डित प्रभुदयालजी था। श्रीमान् बाबू देवकुमारजी रईस ने अपने जीवन काल में तन, मन, धन से जैनधर्म का प्रचार और प्रसार किया था। जैन समाज की प्रगति का इतिहास आपके जीवन के साथ बहुत कुछ सम्बद्ध है। आपने जैन समाज में शिक्षा प्रसार, जागृति और उन्नति के अनेक कार्य किये हैं। आप अपने समय के प्रमुख नेता थे, जैन समाज का अपने जीवनकाल में आपने सच्चा पथ-प्रदर्शन किया है।

जैनगजट के वर्षों सम्पादक आप रहे। महासभा का नेतृत्व अपने ऊपर लेकर आपने इस संस्था की अत्यधिक उन्नति की थी। तीर्थक्षेत्रों की सुरक्षा और सुव्यवस्था का सूत्रपात आपके ही द्वारा हुआ था। मन्दारगिरि जैन क्षेत्र को अन्य धर्मावलम्बियों के हाथ से निकालकर जैन समाज को सौंप देना आपका ही बुद्धिकौशल था।

जैन साहित्योद्धार की प्रवृत्ति के जन्मदाता आप ही हैं। यत्र-तत्र बिखरे हुए तथा ग्रन्थागारों में बन्द प्रकाश और धूप के अभाव में दीमक के पेट में जाते हुए ग्रन्थ-रत्नों की रक्षा और संचयन के लिये आपने जीवन के अन्त समय में उपदेश दिया था—

"आप सब भाइयों से और विशेषतया जैन समाज के नेताओं से मेरी अन्तिम प्रार्थना यही है कि प्राचीन शास्त्रों और मन्दिरों और शिलालेखों की शीघ्रतर रक्षा होनी चाहिये; क्योंकि इन्हीं से संसार में जैनधर्म के महत्व का अस्तित्व रहेगा; मैं तो इस ही चिन्ता में था, किन्तु अचानक काल आकर मुझे लिये जा रहा है। मैंने यह प्रतिज्ञा की थी कि जबतक इस कार्य को पूरा न करूँगा, तबतक ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा। बड़े शोक की बात है कि अपने अभोग्यदय से मुझे

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

इस परम पवित्र कार्य को करने का पुण्य प्राप्त नहीं हुआ; अब आप ही लोग इस पवित्र कार्य के स्तम्भ स्वरूप हैं, इसलिये इस परमावश्यक कार्य का सम्पादन करना आप सबका परम कर्त्तव्य है"।[1]

अनेक समाजोत्थान के कार्यों के अतिरिक्त श्री जैन-सिद्धान्त-भवन आरा की स्थापना श्री बा० देवकुमारजी ने ही की थी। आपकी मृत्यु ३१ वर्ष की अवस्था में श्रावण सुदी ८ सं० १९६४ में हो गयी।

विद्वान् लेखकों से सादर अनुरोध है कि इस अर्धशती के प्रकाशमान नक्षत्र श्री बा० देवकुमारजी के सम्बन्ध में संस्मरण, निबन्ध, कविता आदि अपनी रचनाएँ भेजने का कष्ट करें। जिन महानुभावों के पास उनके पत्र हों वे शीघ्र उन पत्रों को यहाँ भेजने की कृपा करें। रचनाएँ मार्च महीने के अन्ततक आ जानी चाहिये।

सम्राट् अकबर पर जैनधर्म का प्रभाव—

सम्राट् अकबर अध्यात्म प्रेमी था। आत्म-तत्त्व को अवगत करने की ओर उसकी विशेष रुचि थी; इसी कारण उसने 'दीनइलाही' नामक एक नये धर्म का प्रचार करना चाहा था। इस नये धर्म की नींव अध्यात्मवाद पर आश्रित थी। अकबर के दरबार में जैनाचार्य श्री हीरविजय सूरि, विजयसेन, जिनचन्द्र और भानुचन्द्र गुरु के पद पर आसीन थे। दिगम्बर जैन धर्मानुयायी भटानियाकोल (अलीगढ़) निवासी साहु टोडर अकबर की शाही टकसाल में अध्यक्ष के पद पर आसीन थे। इनका प्रभाव भी अकबर पर पर्याप्त पड़ा था। सम्राट् की सहायता से इन्होंने मथुरा के क्षेत्रों की यात्रा के लिये एक विशाल संघ निकाला था और वहाँ पर जाकर जैन स्तूपों का जीर्णोद्धार कराया था। मेड़ता के नवा मन्दिरों के शिलालेखों से प्रतीत होता है कि अकबर पर अहिंसा धर्म का पूरा प्रभाव था। बताया गया है कि—

श्री अकब्बर साहि प्रदत्त युगप्रधानपदप्रवरैः प्रतिवर्षाषाढीयाष्टाह्निकादिषण्मासिकामारिप्रवर्तकैः। श्रीपंत (स्तम्भ) तीर्थोद्धिमीनादिजीवरक्षकैः। श्री शत्रुञ्जयतीर्थकरमोचकैः। सर्वत्र गोरक्षाकारकैः 'चनदीपीरसाधकैः।युगप्रधानश्रीजिनचन्द्रसूरिभिः। आचार्य श्री जिनसिंहसूरि श्री समयराजोपाध्याय वा० हंसप्रमोद वा० समयसुन्दर वा० पुण्यप्रधानादिसाधुयुतैः।[2]

अर्थात्— अकबर ने जैन मुनियों को युगप्रधान पद प्रदान किये। प्रति वर्ष आषाढ़ के अष्टाह्निका पर्व में जीवहिंसा निषेध (अमारि); प्रति वर्ष सब मिलाकर छः

१—श्री बा० देवकुमारजी का यह उपदेश लिखितरूप में जैन सिद्धान्त भवन, आरा में सुरक्षित है।

२—प्राचीन जैन लेख संग्रह 'लेखाङ्क' ४४३

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

महीने पर्यन्त अपने समस्त राज्य में जीवहिंसा निषेध, खम्भात के तालाब में जलचर जीवों की रक्षा; शत्रुञ्जयतीर्थ का कर मोचन और सर्वत्र गोरक्षा प्रचार आदि कार्य किये थे।

जम्बूस्वामी चरित्त में कवि राजमल्ल ने अकबर का वर्णन करते हुए लिखा है—

मुमोच शुल्कं स्वथ जेजियाभिधं स यावदंभोधरभूधराधरम्।
धराश्च नद्यः सरितांपतेः पयः यशः शशीश्रीमदकब्बरस्य च॥
वधैनमेतद्वचनं तदास्यतो न निर्गतं क्वापि निसर्गतं श्विं (तश्चि ?) तिः।
अनेन तद्यूतमुदस्तमेनसः सुधर्मराजः किल वर्ततेऽधुना॥
प्रमादमादाय जनः प्रवर्तते कुधर्मवर्गेषु यतः प्रमत्तधीः।
ततोऽपि मद्यं तदवद्यकारणं निवारयामास विदांवरः स हि[1]॥

अर्थात्— अकबर ने जैनधर्म से प्रभावित जजिया कर बन्द कर दिया था। हिंसक वचन उसके मुख से नहीं निकलते थे। हिंसा से वह सदा दूर रहता था, द्यूत का भी उसने अपने राज्य में निषेध कर दिया था। मद्यपान का भी उसने निषेध कर दिया था, क्योंकि मद्य पीने से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, जिससे व्यक्ति की कुमार्ग में प्रवृत्ति होती है।

श्री जैन सिद्धान्त-भवन के अंजनासुन्दरीरास की प्रशस्ति में श्री विद्याहर्ष सूरि ने लिखा है कि हीरविजयजी ने अकबर को प्रतिबोधा था तथा श्री विजयसेन गणि ने अकबर के दरबार में भट्ट नामक विद्वान् को वाद-विवाद द्वारा परास्त किया था। इसी कारण जैनधर्म से प्रभावित होकर अकबर ने अमारि घोषणा करायी थी। जैनधर्म के प्रभाव के कारण अकबर के हृदय में अहिंसा की निर्मल मन्दाकिनी प्रवाहित होती थी। श्री विजयसेन गणधरार रे। विस्ता० [2]

जिणि शाहि अकबर नी सभा मांहि भट्ट सुंरे कीधो कीधो वादु अभंग रे।
मिथ्यामतरेषडी करी रे जिणि गढ्यु गढ्यु जिन शासनि रंग रे॥
गाय-वृषभ-महिषादिक जीवनी रे, कीधी कीधी नित्य अमारि रे।
बंदि नकालइ को गुरुवयण थीरे, द्रव्य अपूत्र नुं दारि रे॥

अर्थात्— अकबर ने जैनधर्म से प्रभावित होकर गाय, बैल, भैंस, बकरी आदि की हिंसा का निषेध कर दिया था। अकबर ने प्रसन्न कैदियों को छुटकारा दिया था तथा जैन गुरुओं के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित की थी। दान, पुण्य के कार्यों

१—जम्बू स्वामी चरित
२—हिन्दी जैन साहित्य का इस पृ० १०६

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

में भी यह सदा अग्रेसर रहता था ।

ईसाई पादरी पिनहेरो ने लिखा है कि अकबर जैन नियमों पर अमल करता है। जैन विधि से आत्म चिन्तन और आत्म आराधन में सदा संलग्न रहता है। मांस, मदिरा और द्यूत की निषेध आज्ञा प्रचलित कर दी है।

सम्राट् जहाँगीर ने राज्यारोहण के पश्चात् १२ आज्ञाएँ प्रचलित की थी। इनकी ११ वीं आज्ञा के देखने से पता चलता है कि सम्राट् अकबर जैनधर्म से कितना प्रभावित था।

"मेरे जन्म मास में, सारे राज्य में मांसाहार निषिद्ध रहेगा। वर्ष में एक-एक दिन इस प्रकार के रहेंगे, जिसमें सभी प्रकार की पशुहत्या का निषेध है। मेरे राज्याभिषेक का अर्थात् गुरुवार और रविवार के दिन भी कोई मांसाहार नहीं करेगा ! क्योंकि संसार का सृष्टि-सर्जन सम्पूर्ण हुआ था, उस दिन किसी भी जन्तु का प्राण घात करना अन्याय है। मेरे पिता ने ग्यारह वर्षों से अधिक समय तक इन नियमों का पालन किया है और उस समय रविवार के दिन कदापि मांसाहार नहीं किया। अतः मैं भी अपने राज्य में उन दिनों में जीवहिंसा की निषेधात्मक उद्घोषणा करता हूँ"।[१]

जिनचन्द्रसूरि ने अकबर को प्रतिबोध कराने के लिये 'अकबर प्रतिबोध रास' नामक एक ग्रंथ लिखा है। इस ग्रन्थ से प्रकट होता है कि अकबर ने अनेक अवसरों पर जैनपूजा करवायी थी। कहा जाता है कि एक समय अकबर के पुत्र सलीम सुरत्राण के मूल नक्षत्र के प्रथम पाद में कन्या का जन्म हुआ। ज्योतिषी लोगों ने कन्या के ग्रह पिता के लिये अनिष्टकारक बतलाये तथा उसका मुख भी देखने का निषेध किया। सम्राट् अकबर ने शेख अबुलफजल आदि विद्वानों को बुलाकर मूल नक्षत्र की शान्ति का उपाय पूछा। उनसे परामर्श कर सम्राट् ने मंत्रीश्वर कर्मचन्द्र को आदेश दिया कि जैनदर्शन के अनुसार इस दोष की उपशान्ति के लिये उचित प्रबन्ध शीघ्र किया जाय।

सम्राट् की आज्ञानुसार मन्त्रिवर कर्मचन्द्र ने सोने, चाँदी के कलशों द्वारा चैत्र शुक्ला पूर्णिमा के दिन श्री सुपार्श्वनाथ भगवान् का अभिषेक धूमधाम से सम्पन्न किया। पूजन समाप्त होने पर मंगल दीपक और आरती के समय सम्राट् और उनके पुत्र अनेक दरबारियों के साथ वहाँ आये और दश हजार रुपये जिन मन्दिर को भेंट किये। अभिषेक का गन्धोदक सम्राट् और उनके पुत्र ने अपने शरीर में लगाया था

१—युग प्रधान श्री जिनचन्द्रसूरि पृ० ११४

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

तथा इसे रनवास में रानियों के लिये भी भेजा गया। मूलनक्षत्र का समस्त दोष इस पूजा से दूर हुआ।[1]

सम्राट् अकबर ने गिरनार, शत्रुञ्जय, मथुरा आदि जैनतीर्थों की रक्षा के लिये अहमदाबाद के सूबेदार आजमखान को फरमान देकर भेजा था और उससे कहा था कि जैनतीर्थों, जैनमूर्तियों और जैनमन्दिरों को किसी भी प्रकार की हानि मेरे राज्य में कोई नहीं पहुंचा सकता है। जो मेरी इस आज्ञा का उलंघन करेगा, वह दण्ड का भागी होगा।

सम्राट् अकबर जैनधर्म से पूर्ण प्रभावित था, इस बात को सुप्रसिद्ध इतिहासकार विसेन्ट ए० स्मिथ ने भी अपनी पुस्तक 'अकबर दी ग्रेट मुगल' में स्वीकार किया है।

'अकबर का लगभग पूर्णरूप से मांसाहार का परित्याग करना एवं अशोक के समान क्षुद्र से क्षुद्र जीवहिंसा का निषेध करने के लिये सख्त आज्ञाओं का जारी करना, अपने जैन गुरुओं के सिद्धान्त के अनुसार आचरण करने ही के परिणाम थे। हिंसा करनेवालों को कड़ी सजा देना यह कार्य प्राचीन प्रसिद्ध बौद्ध और जैन सम्राटों के अनुसार था। इन आज्ञाओं से अकबर की प्रजा में बहुत लोगों को और विशेषतः मुसलमानों को बहुत कष्ट हुआ होगा'।[2]

स्मिथ साहब ने इसी पुस्तक में यह भी स्वीकार किया कि जैनधर्म से प्रभावित होने का कारण ही अकबर ने अपने-अन्तिम जीवन में मांसाहार का त्याग कर दिया था।[3] अकबरी दरबार नामक पुस्तक से भी प्रतीत होता है कि अकबर पर अहिंसा की छाप अमिट थी। उसने स्वयं तो मांसाहार का त्याग किया ही था, परन्तु अपने आश्रितों को भी मांसाहार का त्यागी बनाया था। विश्व इतिहास में भी अकबर के धार्मिक विचारों का विश्लेषण करते हुए उसे अध्यात्म प्रेमी, दयालु, परोपकारी और विशुद्धाहारी बताया है। जैनधर्म के प्रभाव के कारण ही उसमें आम गुण थे। बिना जैनधर्म के प्रभाव के दयालु और विशुद्धाहारी होना संभव नहीं है।

श्री प्रो० ईश्वरी प्रसाद ने भी मुसलिम शासन के इतिहास का वर्णन करते हुए अकबर को जैनाचार्यों से पूर्ण प्रभावित बतलाया है। उन्होंने यह भी लिखा है कि सम्राट् का रहन-सहन बिल्कुल जैन नियमों के अनुकूल है। स्मिथ साहब ने अकबर की जैन शिक्षाओं का वर्णन करते हुए लिखा है—

१—अकबर प्रतिबोध रास के आधार पर 'युगप्रधान श्रीजिनचन्द्रसूरि' में उल्लखित पृ० ८५

२—अकबर दी ग्रेट युगल पृ० १६७

३—उपर्युक्त ग्रन्थ पृ० ३३५-३३६

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

"But the Jain holy men undoubtedly gave Akbar prolonged instruction for years, which-largely influenced his actions and they secured his assent to their doctrines so far that he was reputed to have been converted to Jainism."[1]

अर्थात्— जैन साधुओं ने वर्षों तक अकबर को जैन धर्म का उपदेश दिया तथा उनके उपदेशों का अकबर के कार्यों पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। उन्होंने अपने सिद्धान्त यहाँ तक मनवा लिये थे कि लोग सम्राट को समझने लगे थे। लोगों की यह समझ केवल अनुमान से ही नहीं थी, किन्तु उसमें वास्तविकता भी थी। कई विदेशी यात्रियों को भी अकबर के व्यवहारों से यह निश्चय हो गया था कि अकबर जैन सिद्धान्तों का अनुयायी था।

हिन्दी विश्वकोश में बताया गया है कि[2] "जीवहिंसा अकबर को प्रिय न थी। वे अधिकतर मांस न खाया करते थे और गोमांस को छूते भी नहीं थे। उनके मत से गोमांस अखाद्य पदार्थ था। एक बार उन्होंने चित्त के आवेग में कहा था, "क्या करूँ, मेरा शरीर अधिक बड़ा नहीं है। यदि मेरा शरीर बड़ा होता तो इस मांस पिंड़ रुपी देह को त्याग देता, जिसमें जगत् के जीव सुख से भोजन करते। प्राणी हिंसा फिर देखने में न आती।" विवाह के सम्बन्ध में अकबर ने कहा था—"यदि इस समय के समान ही मेरी चित्तावृत्ति पहले भी होती, तो शायद मैं विवाह न करता। किससे विवाह करता ? जो मुझसे अवस्था में बड़ी है, उनको माता की दृष्टि से देखता हूँ। जिनकी अवस्था छोटी है, वे मेरी कन्या के समान हैं और जो समान अवस्था की स्त्रियाँ हैं, उन्हें मैं अपनी बहन जानता हूँ" अकबर के ऐसे विचार निश्चय ही जैन धर्म के संसर्ग से उत्पन्न हुए थे।

श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति ने अपनी 'मुगलसाम्राज्य के पतन के कारण" नामक पुस्तक में लिखा है कि अकबर अहिंसाधर्म का पालन करता था, जिससे अनेक मौलवी उससे असंतुष्ट थे। इन्हीं मौलवियों के सहयोग सलीम अकबर के विरुद्ध हो गया था तथा सलीम को बगावत में सफलता भी ऐसे ही मुसलमानों के सहयोग से प्राप्त हुई जो अकबर की दयालुता के कारण उससे असन्तुष्ट थे। वास्तव में अकबर के ऊपर जैन धर्म का असाधारण प्रभाव पड़ा था, इसलिए वह हिंसा, झूठा, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पापों का त्यागी था। सदाचार उसके जीवन का प्रमुख

१—जैन टीचर्स ऑफ अकबर

२—हिन्दी विश्वकोश भाग १ पृ० २५

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

तत्त्व था। प्रजा के साथ सहानुभूति और वात्सल्य का व्यवहार करता था। प्रजा पालन अपना कर्त्तव्य समझता था, कलाकार और साहित्यकार उसके राज्य में खूब फले-फूले थे।

कवि शिखरचन्द—

विक्रम की बीसवीं शती के हिन्दी जैन कवियों में कवि शिखरचन्द का नाम आदर के साथ लिया जा सकता है। यह प्रसिद्ध कवि वृन्दावन के लघु पुत्र थे। इनकी माता का नाम रुक्मणी था। यह गोयल गोत्री अग्रवाल थे। कवि वृन्दावन का जन्म शाहाबाद जिले के बारा नामक गाँव में सं० १८४८ में हुआ था। इनके पिता का नाम धर्मचन्द्र था। कवि वृन्दावन १२ वर्ष की अवस्था में अपने पिता के साथ बनारस में आगये थे। काशीनाथ आदि विद्वानों की सत्संगति का लाभ कवि को हुआ था। यह काशी में बाबर शहीद की गली में रहते थे। इन्होंने चौबीसी पाठ, तीसी चौबीस पूजा पाठ, छन्दशतक, प्रवचनसार टीका एवं फुटकर अनेक पद्य रचे थे।

सुयोग्य कवि की सन्तान भी कवि ही थी। इनके तीन पुत्रों में से ज्येष्ठ पुत्र अजित दास और लघुपुत्र शिखरचन्द कवि थे। विंशति विद्यमान जिनपूजा की प्रशस्ति से प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ कवि ने ग्वालियर के भट्टारक राजेन्द्रभूषण जी के उपदेश से सं० १९३२ में रचा था। ऐसा भी प्रतीत होता है कि इन्होंने भट्टारक महेन्द्रकीर्त्ति की गद्दी में रहकर पं० मन्नालाल लक्ष्मीचन्द्र तथा दिलसुख लक्ष्मीचन्द्र से भी शिक्षा प्राप्त की थी। जैन शास्त्रों का पाण्डित्य इन्दौर और ग्वालियर के भट्टारकों के पास रहकर प्राप्त किया था; यही कारण है कि इनकी कविता भावनाओं के विश्लेषण के ख्याल से कवि वृन्दावन से भी ऊँचे दर्जे की है। श्री जैन सिद्धान्त भवन में इनकी दो पूजाएँ वर्तमान हैं—विंशति विद्यमान जिनपूजा और जिनसहस्रनाम पूजा। सहस्र नाम पूजा की रचना कवि ने विहारीलाल अग्रवाल के दि० जैन मन्दिर काशी में वि० सं० १९४२ पौषसुदी ८ को की है। ग्रन्थ लिखना मार्गशीर्ष शुक्ला अष्टमी को शुरू किया था, एक महीने में यह विशाल पूजन ग्रन्थ लिखा गया है। इस ग्रन्थ की पृष्ठ संख्या १०७ है।

विद्यमानविंशति जिनपूजा का प्रशस्ति में बताया है—

स्वस्ति श्री काष्ठासंघे भट्टारकललितकीर्त्तिपट्टस्य राजेन्द्रकीर्त्तिआम्नाय साधुवृन्दावनपुत्रशिखरचन्द्रेण इदं विंशतिविद्यमानजिनपूजनं कृतम्; स्वज्ञानावरणीकर्मक्षयार्थं, भव्यजनकल्याणार्थम्॥

दशकत श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये गोपाचलपट्टे श्रीभट्टारक जिहेवजिनेन्द्रभूषणस्तत्पट्टे श्रीभट्टारकमहेन्द्रभूषणजिहेवस्तत्पट्टे श्रीभट्टारकराजेन्द्रभूषणस्तेनोपदेशात्

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

वाराणस्यां नगर्यां श्री शिखरचन्द्रअग्रवालस्तेन रचितं सीमन्धरादिपूजनं भव्यजीवपाठनार्थं शुभम् ।

पत्र शुभ संवत् १९३३ का मिती फागुन वदी ९ चन्द्रवार भट्टारक श्री १०८ महेन्द्रकीर्तिजी गादी इन्दौर लश्करी मन्दिर गोराकुण्ड के पास पहुंच व्यासवाला के पास पंडित मनालाल लक्ष्मीचन्द्र दिजसुखलक्ष्मीचन्द्रस्तेनोपदेशात् वाराणस्यां नगर्यां श्रीशिखरचन्द्रअग्रवालकेन रचितं श्रीगुरुपाठकारापितम् ॥

जिनसहस्रनाम पूजा के अन्त की प्रशस्ति—

मुनिराज जिनंद कवीन्द्रनि काव्यमयी शुभ नाम बखाना ।
ताकर पाठ प्रताप सुनो भवि होइ तुम्हें सुख सिन्धु महाना ॥
पुत्र कलत्र जु मित्र सुवित्त लहै तुमको मन मान प्रधाना ।
शुद्ध सुभाव प्रभाव मिलै सिव जानहुँ हे गुनज्ञान निधाना ॥
मगसिर सुदि अष्टमी सुदिन कियो आरम्भ उदार ।
पौससुदी अष्टमी सुबुध पूरन भयो सुष्यार ॥
संवत विक्रम भूपके जुग गति ग्रह ससि जान ।
यह रचना पूरन भई मंगलमुदसुख थान ॥

लिपिकार ने अपना परिचय निम्न प्रकार दिया है—

श्रीकाष्ठासंघे माथुरगच्छे पुष्करगणे लोहाचार्यान्नाये हंसारपट्टे दिल्लीसिंहासनाधीश्वर श्री १०८ भट्टारकोत्तम भट्टारक राजेन्द्रकीर्तिस्तत्पट्टे भट्टारक मुनीन्द्रकीर्तिलिपिकृतं श्री जिनसहस्रनाम पूजा ॥

जैनागम में वितत भिन्न का आध्यात्मरूप—

यों तो गणितशास्त्र का उपयोग लोक व्यवहार चलाने के लिए होता है, पर अध्यात्म-क्षेत्र में भी इस शास्त्र का व्यवहार प्राचीन काल से होता चला आ रहा है। मन को स्थिर करने के लिये गणित एक प्रधान साधन है। गणित की पेचेदी गुत्थियों में उलझ कर मनस्थिर हो जाता है तथा एक निश्चित केन्द्रबिन्दु पर आश्रित होकर आत्मिक विकास में सहायक होता है। जैनाचार्यों ने धर्मशास्त्र में गणित का उपयोग मन को स्थिर करने के लिये किया है। निकम्मा मन प्रमाद करता है; जब तक यह किसी दायित्व पूर्ण कार्य में लगा रहता है, तबतक इसे व्यर्थ की अनावश्यक एवं न करने योग्य बातों के सोचने का अवसर ही नहीं मिलता है। पर जहाँ इसे दायित्व से छुटकारा मिला— स्वच्छन्द हुआ कि यह उन विषयों को सोचेगा, जिनका स्मरण भी कभी कार्य करते समय नहीं होता था। नया साधक जब ध्यान का अभ्यास

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

आरम्भ करता है, तब उसके सामने सबसे बड़ी कठिनाई यही आती है कि अन्य समय जिन सड़ी, गली, गन्दी एवं घिनौनी बातों की उसने कभी कल्पना भी नहीं की थी, वे ही उसे याद आती हैं और वह घबड़ा जाता है। इसका प्रधान कारण यही है कि जिसका वह ध्यान करना चाहता है, उसमें मन अभ्यस्त नहीं है और जिनमें मन अभ्यस्त है उनसे उसे हटा दिया गया है, अतः इस प्रकार की परिस्थिति में मन निकम्मा हो जाता है। किन्तु मन को निकम्मा रहना आता नहीं है, जिससे वह पुराने चित्रों को उधेड़ने लगता है; जिनका प्रबल संस्कार उसके ऊपर पड़ा है।

जैनाचार्यों ने धार्मिक गणित की गुत्थियों को सुलझाने के मार्ग द्वारा मन को स्थिर करने की प्रक्रिया बतलायी है क्योंकि नये विषय में लगने से मन ऊबता है, घबड़ाता है, रुकता है और कभी कभी विरोध भी करने लगता है। जिस प्रकार पशु किसी नवीन स्थान पर नये खूंटे से बांधने पर विद्रोह करता है, चाहे नयी जगह उसके लिये कितनी सुखप्रद क्यों न हो, फिर भी अवसर पाते ही रस्सी तोड़कर अपने पुराने स्थान पर भाग जाना चाहता है। इसी प्रकार मन भी नये विचार में लगना नहीं चाहता है। कारण स्पष्ट है; क्योंकि विषय चिन्तन का अभ्यस्त मन आत्म-चिन्तन में लगने से घबड़ाता है। यह बड़ा ही दुर्दमनीय और चंचल है। धार्मिक गणित के सतत अभ्यास से यह आत्म चिन्तन में लगता है; जिससे व्यर्थ की आवश्यक बातें विचारक्षेत्र में प्रविष्ट नहीं हो पातीं।

विततं भिन्न का प्रयोग भी इसी कारण जैनाचार्यों ने किया है। इसके द्वारा संख्याओं का परिज्ञान तो होती ही है, पर साथ ही मन को निश्चित स्थान पर आधारित करने का यह श्रेष्टतम साधन है।

यद्यपि आज के गणितज्ञ विततं भिन्न के आविष्कार का श्रेय साधारणतः इटालियन गणितज्ञ पिट्रो एनटोनिया कॉटालडी, जिसकी मृत्यु १६२६ ई० में हुई, को देते हैं। उसने इसका प्रयोग वर्गमूल निकालने के लिये किया था; जैसे—

$$१\sqrt{२८}=५+\frac{१}{३}+\frac{१}{३}+\frac{१}{३}+\frac{१}{१०}+\frac{१}{३}+\frac{१}{३}+\frac{१}{१०}\cdots\cdots$$

यह एक आवर्त विततं भिन्न के रूप में है। साधारण प्रयोगों के सिवा इस महानुभाव ने विततं भिन्न को सैद्धान्तिक रूप नहीं दिया था। इसके पूर्व राफेलो बाम्बोली नामक एक गणितज्ञ के बीजगणित में, जिसकी रचना सन् १५७९ ई० में की गयी है, विततं भिन्न की चर्चा मिलती है। हो सकता है कि कॉटालडी को विततं भिन्न की प्रेरणा इसी पुस्तक से प्राप्त हुई हो। इस अवस्था में भी कॉटालडी को विततं भिन्न की सांकेतिकता के आविष्कार का श्रेय दिया ही जायगा। डेनियल-

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

श्वीनटर ने सन १५८५-१६३६ ई० में Geometrica Practica में वितत भिन्न का उपयोग किया है। पर सिद्धान्त की चर्चा का श्रीगणेश सन् १६५५ में प्रकाशित लार्डब्रानकर का समीकरण— $\frac{१}{१}+\frac{१२}{२}+\frac{३२}{२}+\frac{५^{2}}{२}+\cdots\cdots\frac{n}{\Delta}$; ऐसा समझा जाता है कि इनकी कल्पना का आधार वालिस (Wallis) का समीकरण है।

$$\frac{\Delta}{n}=\frac{३\cdot३\cdot५\cdot५\cdot७\cdot७\cdots\cdots}{२\cdot४\cdot४\cdot६\cdot६\cdot८\cdot८\cdots\cdots}$$

जान वालिस ने अपने पाटी गणित में (१६५६ ई०) साधारण वितत गणित की संसृतियाँ और आरम्भिक सिद्धान्तों की चर्चा की है। ह्यूजेन ने सन् १७०३ में सरल वितत भिन्नों का प्रयोग किया है। निकोल सॉन्डरसन (१६८८-१७३९), आयलर और लैम्बई ने वितत भिन्न के सिद्धान्तों का निरूपण किया है लैगरैंजेज ने आयलर के बीजगणित का सम्पादन कर नये नये सिद्धान्तों की चर्चा की है। ए० स्टर्न नामक गणितज्ञ ने १९ वीं शती के पूर्वार्द्ध में इस विषय पर काफी लिखा है। पाश्चात्य गणितज्ञों में वितत भिन्न की संसृति के सिद्धान्त का श्रेय बहुत से गणितज्ञों को है; जिनमें एक स्टर्न साहब भी हैं। इ० बी० वॉन, ब्लीक आदि गणितज्ञों ने निस्सीम वितत भिन्न, जिसकी राशियाँ Complex हैं, की संसृति का सिद्धान्त निकाला।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पाश्चात्य गणित-जगत में १६ वीं शती के पहले वितत भिन्न का प्रयोग नहीं किया गया था। जैन सिद्धान्त के ग्रन्थों में समस्त जीव-राशि, गुणस्थानों की जीवराशि, मार्गणाओं की जीवराशि का प्रमाण निकालने के लिये वितत भिन्न का प्रयोग धवलाकार ने नवीं शती में सिद्धान्त निरूपण पूर्वक किया है। धवलाटीका के रचयिता श्री वीरसेनाचार्य ने उपर्युक्त जीवराशियों का प्रमाण निकालने के लिये अपने पूर्ववर्त्ती जैनाचार्यों के गणित सूत्रों को उद्धृत किया है। निश्चय ही ये गणित सूत्र पाँचवीं शती से लेकर आठवीं शती के मध्यवर्ती काल के हैं। अंख्यात, असंख्यातासंख्यात, अनन्त और अनन्तानन्त के आन्तरिक प्रभेदों और तार-तम्यों का सूक्ष्म विवेचन वितत भिन्न के सिद्धान्तों के आलम्बन बिना संभव नहीं था। द्विरूपवर्गधारा, घनाघनवर्गधारा तथा करणीगत वर्गित राशियों के वर्गमूल के आनयन में भी वितत भिन्न का प्रयोग जैनाचार्यों ने किया है।

"असंखेज्जभागकहियसव्वजीवरासिणा तदुवरिमवग्गे भागे हिदे किमागच्छदि ? असंखेज्जभाग-हीणा सव्वजीवरासी आगच्छदि। उक्कस्स-असंखेज्जासंखेज्जभागब्भहियसव्वजीवरासिणा तदुवरिमवग्गे भागे हिदे किमागच्छदि ? जहण्णपरित्ताणंतभागहीणसव्वजीवरासी आगच्छदि। अणंतभागब्भहिय

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

सव्वजीवरासिणा तदुपरिमवग्गे भागे हिदे किमागच्छदि ? अणंतभागहीणसव्वजीवरासी आगच्छदि। संबंधकारणं पुव्वं व वत्तव्वं। एत्थ उवउज्जंतीओ गाहाओ—

अवहारवड्ढिरूवाणवहारादो हु लद्धअवहारो।
रूवहिओ हाणीए होदि हु वड्ढीए विवरीदो॥
अवहारविसेसेण य छिण्णवहारादु लद्धरू ।
रूवाहियऊणा वि य अवहारो हाणिवड्ढीणं॥
लद्धविसेसच्छिण्णं लद्धं रूवाहिऊणयं चावि।
अवहारहाणिवड्ढीणवहारो सो मुणेयव्वो॥[1]

भावार्थ—असंख्यातवाँ भाग अधिक सम्पूर्ण जीवराशि का सम्पूर्ण जीवराशि के उपरिम वर्ग में भाग देने पर असंख्यातवाँ भाग हीन सम्पूर्ण जीवराशि आती है। उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यातवाँ भाग अधिक सम्पूर्णराशि का सम्पूर्ण जीवराशि के उपरिम वर्ग में भाग देने पर जघन्य परीतानन्तवाँ भागहीन सम्पूर्ण जीवराशि आती है। अनन्तवाँ भाग अधिक सम्पूर्ण जीवराशि का सम्पूर्ण जीवराशि के उपरिम वग में भाग देने पर अनन्तवाँ भाग हीन सम्पूर्ण जीवराशि आती है।

उपर्युक्त राशियों के आनयन की प्रक्रिया विवत भिन्न स्वरूप है। इस भिन्न की संसृति द्वारा ही उपर्युक्त राशियाँ निकाली जा सकती हैं। वीरसेनाचार्य ने इसी कारण अपने से पूर्व प्रचलित विवत भिन्न की संसृति के सिद्धान्तों का निरूपण किया।

भागहार में उसी के वृद्धिरूप अंश के रहने पर भाग देने से जो लब्ध भागहार आता है, वह हानि में रूपाधिक और वृद्धि में इससे विपरीत—एक कम होता है।

भागहार विशेष से भागहार के छिन्न—भाजित करने पर जो संख्या आती है उसे रूपाधिक अथवा रूपन्यून कर देने पर वह क्रम से हानि और वृद्धि में भागहार होता है।

लब्ध विशेष से लब्ध को छिन्न—भाजित करने पर जो संख्या उत्पन्न हो उसे एक अधिक अथवा एक कम कर देने पर वह क्रम से भागहार की हानि और वृद्धि का भागहार होता है।

सिद्धान्त— $\frac{अ}{व} = क$ तो $\frac{अ}{ब+\frac{ब}{न}} = क - \frac{क}{न+१}$;

१—धवला टीका जिल्द ३ पृ० ४५-४६

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

और $\frac{अ}{ब-\frac{ब}{न}} = क + \frac{क}{न-१}$। यदि $\frac{अ}{ब} = क$ तो $\frac{अ}{ब+स} = क - \frac{क}{\frac{ब}{स}+१}$

और $\frac{अ}{ब-स} = क + \frac{क}{\frac{ब}{स}-१}$। यदि $\frac{अ}{ब} = क$ और $\frac{अ}{ब} = क+स$ तो –

$ब = ब - \frac{ब}{\frac{ब}{स}+१}$; और यदि $\frac{अ}{ब} = क - स$, तो $ब = ब + \frac{ब}{\frac{क}{स}-१}$।

इस प्रकार जैनाचार्यों ने आत्मिक विकास के लिये वितत भिन्न का प्रयोग सिद्धान्त निरूपण के साथ ई० सन् की पाँचवीं या छठवीं शती में किया है।

भारतीय अन्य गणित शास्त्र में वितत भिन्न का प्रयोग सिद्धान्त प्रतिपादन के रूप में भास्कराचार्य के समय से मिलता है। यों तो आर्यभट और ब्रह्मगुप्त के गणित ग्रन्थों में भी इस भिन्न के बीजसूत्र वर्तमान हैं, परन्तु सिद्धान्त स्थिर कर विषय को व्यवस्थित ढंग से उपस्थित करने तथा उससे परिणाम निकालने की प्रक्रिया उन ग्रन्थों में नहीं है। धवला टीका में उद्धृत गाथाओं में वितत भिन्न के सिद्धान्त इतने सुव्यवस्थित हैं, जितने आज पाश्चात्य गणित का सम्पर्क या वितत भिन्न के सिद्धान्त स्थिर हुए हैं।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. XVI DECEMBER 1950. No. II

Edited by

Prof. A. N. Upadhya, M. A., D. Litt.
Prof. G. Khushal Jain, M. A., Sahityacharya.
Sri, Kamata Prasad Jain, M. R. A. S., D. L.
Pt. K. Bhujbali Shastri, Vidyabhushan.
Pt. Nemi Chandra Jain Shastri, Jyotishacharya.

Published at:

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription

Inland Rs. 3. Foreign 4s. 8d. Single Copy Rs. 1/8

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

CONTENTS.

		Pages.
1.	An Inscription on a Jain Image from Patur. Akola —Sri Asoke Kumar Bhattacharyya, M. A. ...	39
2.	Jain Gurus of the name of Pujyapada —Sri Jyoti Prasad Jain, M.A., LL. B.	46
3.	History of Mathematics in India from Jain Sources —Dr. Sri A. N. Singh, M. Sc., D. Sc., ...	54
4.	Renascent India and Vaisali —Prof. Sita Rama Singh, M. A.	70
5.	Contributions of the Jainas to Hindi Literature —Sri C S. K Jain, M. A.	73

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

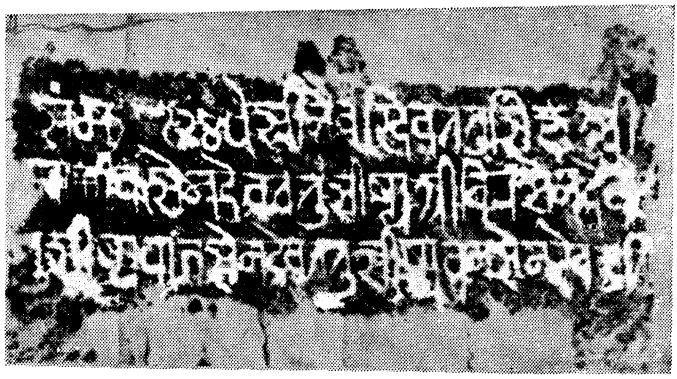

An Inscription on a Jain Image
from
Patur, Akola

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Om

The JAINA ANTIQUARY

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

[अकलंकदेव]

Vol. XVI
No. II

ARRAH (INDIA)

December
1950.

AN INSCRIPTION ON A JAINA IMAGE FROM PATUR, AKOLA.

By
Sri Asoke Kumar Bhattacharyya, M. A.

About a year ago Mr. S. S. Patwardhan, Curator, Central Museum, Nagpur very kindly sent me at my request a number of photographs of some interesting Jina images preserved in his Museum, along with which an ink-impression of an inscription over the image of Suvidhi from Patur, Dist. Akola, was also sent. The present note is based on a reading of the inscription from the said ink-impression a photograph of which is reproduced here and I must acknowledge here the courtesy shown to me by Mr. Patwardhan in this regard and the help rendered by Mr. R. Gupta, Photographer, Indian Museum, Calcutta.

The inscription in three lines is written in the North Indian characters of the 12-13th Cent. A. D. and the language is Sanskri which is very much corrupt. The writing occupies a rectangular space measuring $10\frac{1}{2}'' \times 3\frac{1}{2}''$, and the most interesting point to note here is that the letters vary considerably in their shape and size, some portion of the beginning of line 2 seems to have been peeled off rendering the reading of the text well nigh impossible in that portion.

The inscription refers itself to the year 1245 of the Vikram Samvat very peculiarly indicated by Saṁ Ma[ṁ] for Saṁ Vat, corres-

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

ponding to 1188 A. D. The text of the inscription is extermely corrupt, as noted above. So far as orthography is concerned (dental) S is invariably used for Ś (palatal) except once e.g. Srī for Śrī (line 1), siṣya or sīṣya for śiṣya (lines 1 & 2). Indiscriminate use of the long ī and the short i, e. g. Virasena for Vīrasena, sīṣya for siṣya (both line 2) and so on, violation of the rules of euphonic combination e. g. devatat = sīṣya for devastat = śiṣya, siṣya Srī for śiṣyah śrī etc, are also some of the noticeable points in the orthography of the text. The variant forms of the subjoining "ya" deserve mention in this connection, thus: in (line 1) and (line 2.).

The importance of the inscription lies in the succession list of Jain Pontiffs it supplies us with beginning from a certain Śrī N [ai] vīradeva. It is said that this N [ai] vīradeva had a disciple Srī [Māṇī] ka (Māṇikaya) deva whose disciple was Śrī Vi (ī) ra sena deva whose disciple was pā [ṁ] ga sena deva, the last having a disciple in V [ra?] na sena deva. The Gaccha or the Gaṇa is not mentioned.

The text is read as follows :

Line 1. Saṁ ma [ṁ] 1245 S (Ś)rī N [aī] vīradeva tats (ś)ṣya S(Ś)rī

Line 2. [Māṇī] ka (Māṇikya) senadeva tat S (ś) ī (i) ṣ ya Śri Vi (i) resenadeva [ta—]

Line 3. t sī (śi) ṣya Pā [ṁ] gasenadeva tat sī (śi)ṣya V [ra?] na senadeva iti [l].

The line of Jain teachers mentioned in the inscription is not otherwise known although from the names it appears to be some branch of the Sena gaṇa to which Vīra sena, the author of Dhavalā commentary and Jina sena, the author of Ādipurāṇa belong. Of this Sena gaṇa we get a certain Lakṣmīsena belonging to the Mūla Sangha and Saraswati gaccha. He flourished in the 16th. cent, A.D. and pertained to the line of Kundakunda.[1] In this connection we may make reference to the Paṭṭāvali of the Senagaṇa[2] published in the J. A. Although there occur such names as Mānikasena, Vīrasena etc. the order of succession does not tally at all with that in the present inscription.

1. *Vide, Pratimā lekha Sangraha* by K. P. Jain, p. 25, no. 54.
2. A Paṭṭāvali of the Senagaṇa-by A.N. Upadhyaga, (J.A. Vol. XIII. 2. p. 1)

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

DO ANCIENT JAIN BOOKS SHED ANY LIGHT ON ANCIENT HISTORY?

By

Sri. L A. Phaltane B. A. LL. B. Pleader, Islampur (Satara).

Due to ignorance or to their fear of their sacred books being poluted by the touch of non-Jain hands, the Jains have upto now been very careful not to publish their ancient literary treasures or allow them to be touched by foreigners. According to my opinion if proper interpretations, consistent with the discoveries made by modern scholars of history, are put upon the contents of the Jain ancient book it would be possible to speak with some certainty about the ancient date of the teaching of Jainism. It must be borne in mind however that the Jain thinkers of old never thought it proper to reduce their knowledge or learning to writing; that they generally avoided Sanskrit language for imparting religious and secular teaching; that they always encouraged the use of the then prakrit languages which were in vogue among the public in those days and that their knowledge came down to posterity by oral teaching from preceptor to disciple.

This went on well until so long as the school of Jain thought continued to remain strong and continuous and well adjusted with the other elements of human life. But during some centuries before Christ, decadent tendencies began to appear in the Jain School and the Jain sages began to perceive that their knowledge was gradually disappearing. So about the beginning of the Christian era the great Jain Acharya Shri Umaswami composed a book named 'Tatwartha-Sutra' in Sanskrit in which all the Jain tenets are enumerated in condensed Sutra form. This, therefore is the first Sanskrit written work among the Jains acknowledged as true and complete by all the three important Jain Sects—Digambars, Swetambars and Sthanak-wasis. After this book came into existence, numerous commentators arose who have written books of extensive commentaries which are available at present. But it must however be remarked that 'Tatwartha-Sutra' is the main authoritative code of the principles of Jainism and the readers are requested to look to it primarily to

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

ascertain what true tenets of Jainism are and to try to interprete those principles in the light of the modern discoveries and inventions.

We would like to draw the attention of the readers to the following extract taken from the issue of 8-2-33 of 'Times of India' at page 14 under the caption "Vanished Country Traced-Sea Land."

"Evidence that, beginning about 4400 years ago there existed a country now entirely blotted out, which comprised an extensive portion of the Arabian peninsula and was known as the 'Country of the Sea or the Sea Land' is announced by the Professor Raymond P. Dougherty of Yale University.

'The Sea Land' played a major role in the history of the south western Asia for 2000 years, until about 500 B. C. he declares. It was contemporaneous with the ancient nations of biblical times and had a highly developed culture which flourished and died leaving its imprint on the early civilizations developed in the Tigris-Euphrates Valley.....",

Dr. Dougherty gained his conception of the Sea Land's location and political importance by the careful comparison and correlation of all the references left disconnected in the numerous texts of the Babylonian and Asoyrian literature. If therefore we can find from the Sutras in the Jain book Tatwartha Sutra or rather if we can, by interpreting those sutras in the light of the discoveries, find that those sutras enable us to conceive that some such state of things must have existed in ancient days, it would be possible for us to presume that those Sutras or their original ancient forms must have been as old as the time given by Dr. Dougherty in the above extract,

For this purpose we shall have to take into consideration the Sutras which appear in the third Chapter of the 'Tatwartha Sutra'. The Sutras 1 to 6 of that Chapter give information regarding the Nāraka beings while the rest of the Chapter deals with the description about continents, seas, mountains, rivers etc. on the earth. The ideas about hell and hellish beings (Nārakas) entertained by the Christian and Muslim religionists are different from those of the religions of the Indian origin while those found in the Jain religious books show considerable difference from the ideas of their Hindu brother religionists. It appears that the Jain books locate the Nāraka

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

DO ANCIENT JAIN BOOKS SHED ANY LIGHT ON ANCIENT HISTORY?

By

Sri. L. A. Phaltane B. A. LL. B. Pleader, Islampur (Satara).

Due to ignorance or to their fear of their sacred books being poluted by the touch of non-Jain hands, the Jains have upto now been very careful not to publish their ancient literary treasures or allow them to be touched by foreigners. According to my opinion if proper interpretations, consistent with the discoveries made by modern scholars of history, are put upon the contents of the Jain ancient book it would be possible to speak with some certainty about the ancient date of the teaching of Jainism. It must be borne in mind however that the Jain thinkers of old never thought it proper to reduce their knowledge or learning to writing; that they generally avoided Sanskrit language for imparting religious and secular teaching; that they always encouraged the use of the then prakrit languages which were in vogue among the public in those days and that their knowledge came down to posterity by oral teaching from preceptor to disciple.

This went on well until so long as the school of Jain thought continued to remain strong and continuous and well adjusted with the other elements of human life. But during some centuries before Christ, decadent tendencies began to appear in the Jain School and the Jain sages began to perceive that their knowledge was gradually disappearing. So about the beginning of the Christian era the great Jain Acharya Shri Umaswami composed a book named 'Tatwartha-Sutra' in Sanskrit in which all the Jain tenets are enumerated in condensed Sutra form. This, therefore is the first Sanskrit written work among the Jains acknowledged as true and complete by all the three important Jain Sects—Digambars, Swetambars and Sthanak-wasis. After this book came into existence, numerous commentators arose who have written books of extensive commentaries which are available at present. But it must however be remarked that 'Tatwartha-Sutra' is the main authoritative code of the principles of Jainism and the readers are requested to look to it primarily to

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

according to that Sutra by the Naga tribe. The Greek traditions, Assyrian mythology and the Indian Purānas also give the same place for the Naga tribe. We, thus, come to the conclusion that Ratna-prabhā of the Jain Sutra must mean the Persian Gulf which is a part of the Arabian sea. The remaining six Prabhās are below the first (अधोधः one below the other). They are described as Bhumis or lands. The commentary below the third Sutra of the third Chapter mentions the colour or complexion of these people.

प्रथमद्वितीययोः कापोतीलेश्या, तृतीयायामुपरिष्टात्कापोती, अधोनीला, चतुर्थ्यां, नीला पंचम्यामुपरिनीला अधःकृष्णा, षष्ठ्यां कृष्णा सप्तम्यां परमकृष्णा

Prathama Dvitiyayoh Kapoteeleshya, Triteeyāmuprishtāt kapotee Adhoneela, Chaturthyāmneela Panchamyāmupari neela Adhah Krishna, Shashtyām Krishna Saptamyām Param Krishnā.

Meaning :—The complexion of the Narakas of the first and second lands is grey or dirty white. The upper part of the third is grey while that of the lower part is blue. The complexion of the beings in the fourth division is blue. The people of the upper part of the fifth land have blue complexion while those of the lower part of the land have dark complexion. The complexion of the inhabitants of the sixth land is black and that of the seventh very black.

Southward one goes from the mouth of the Euphrates complexion of the people grows darker and darker.

The fifth Sutra of the Third Chapter of Tatwartha Sutra runs as under :—

संक्लिष्टासुरोदीरितदुखाश्च प्राक्चतुर्थ्याः ॥५॥

Sanklishtāsurodeeritduhkhāsch Prāk chaturthyām: /5/

Meaning :—The miseries of the people upto the fourth land are caused by the infuriated Asuras.

The Assyrian mythology contains stories that the Assyrian people had subjugated the first three of the seven lands which stood to the south of their country.

We take the following line from a verse in Manusmriti.

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः

Āpo Nārā iti procta āpo Vai Narasoonvah

Meaning :—Āpa i.e. water has nārā as its equivalent:

Waters are also called sons of Nara.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

From this, the word 'Nāra' or 'Nara' would mean a son of water or an island man or a sailor. Even now in Satara district there are several families which have got Narake (नरके) as their surname.

All these references and arguments go to show that the Naraka beings described in the third Chapter of the Tatwartha Sutra are no others than the people who dwelt in lands which spread far and wide at one time in the Arabian sea and which were known as Sea lands or Narakas. We can further infer that the original form of the Sutras from which the 6 Sanskrit Sutras No. s 1 to 6 of the third Chapter of the Tatwartha Sutra were formed must be as old as four thousand and four hundred years.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

JAINA GURUS OF THE NAME OF PUJYAPADA.

By
(Sri Jyoti Prasad Jain, M.A., LL. B)
(*Continued from Vol. XVI. No. 1, p. 6.*)

Of these so many different Pujyapadas, the one refferred to in no. 18 above, seems to be the latest. The inscription[33] is of a very late date and the Gurus mentioned in it were probably the later Bhattarakas of medieval times, who were associated with the Jaina establishment of Karkal. The famous statue of Bahubali at Karkala was installed by Vir Pandya Bhairrasa the ruler of that place in 1431-32 A.D.[34] Since then Karkala became quite an important centre of Jainism. According to the colophon of Daśa-Bhaktyādi-mahasastra (completed in 1542 A. D) by Vardhamana Munindra,[35] one Dharma-bhusana Bhattaraka had for his devotees the Vijyanagar emperor Devaraja (1429-1451 A.D.) and also Sankappa Sresthi, a noble of his court. This Dharmabhusana seems to have been associated with Karkala, Charukirti and Srutakirti who just precede him in the inscription, are also mentioned in the same order in this colophon. And one Bhattaraka Charukirti. the author of Gita-Vitraga lived in circa 1400 A.D.[36] According to the same colophon one Srutakirti was revered by king Sabevaraya with whose immediate successors, Malliraya, Sangiraya etc., Vadi Vidyanand (died 1541 A.D.) the most prominent Jaina Guru of that century and a respected colleague of the author, also came in contact. This Vidyananda was also associated with Karkala. Hence the Pujyapada Swami of this inscription, who was in the time of Charukirti, Srutakirti and Dharma-bhusana, and was most probably a Bhattaraka of Karkala, may be placed in circa 1500 A.D. He may have belonged to still later times since in such lines of Gurus same names, often the same succession of names are many a time found repeated; but

33. M. A. R. (1920-21), p. 8.
34. Prasasti Sangraha (Arrah), p. 39.
35. *Ibid*, pp. 120-149.
36. *Ibid*, p. 4, 65.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

in no case did he live much prior to the beginnig of the 16th century. Nothing else is known about him.

The Pujyapada Vrtipa (no. 17) mentioned by Pandya Kshmapati in the beginning (v. 8) of his Bhavyananda Sastra,[37] soon after Nagacandra and Devacandra, the author's own immediate Gurus, also seems to have been an earlier Bhattaraka or Guru associated with Karkala and being contemporary of these persons, must be assigned to the first half of the 15th century i.e. circa 1450 A.D.[38] It is also possible that the two Pujyapadas so far discussed might have been identical.

The Pujyapada muni referred to in no. 14, as the Guru of Mangaraja, the author of Khagendra-mani-darpana (c. 1360 A.D.) and described there as a great master of the science of medicine,[39] must have belonged to the early part of the 14th century A.D. His medical achievements and writings seem to have become quite celebrated. The famous Pujyapada (no. 15) who had conducted his experiments in alchemi (Sidharasa) on a hill with the basadi of Parswa Jina on it, near the town of Pugataka in Karnataka, as mentioned by Devarasa in his Gurudattacharita (1650 A.D.)[40], is most probably identical with the Guru of Mangraia. The several later works on medicine as referred to in no. 19, such as the Vaidyasara or Vaidyasara sangraha[41], Madan-Kama-ratnama[42], Nidana-muktavali[43] etc. also seem to be the creations of this very Pujyapada, because about the two Bhattarkas of Karkala nothing is known of their proficiency in medicine. Some non-Jaina medical writers like Basavaraja, Nityanatha, the authors of Madhavanidana, of Rasaratnasamuccaya etc. also refer to Pujyapada as a medical

37. *Ibid*, p. 34.
38. *Ibid*, pp. 36-39.
39. Karnataka Kavicharite, I. p. 412-422.
40. *Ibid*, pp. 391-392.
41. PS., p. 151.
42. *Ibid*, p. 13.
43. *Ibid*, p 15.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

authority[44], and most of these references seem to indicate the same Guru of circa 1300 A.D.[45] No doubt, a very much earlier Pujyapada was also a great authority on that science, but the nature, style and language of those works and references preclude any possibility of their being written by the author of Jainendra, Sarvarthasidhi etc. Even this Kalyanakaraka referred to by Vijyanand Upadhyaya as the basis of his Sarasangraha[46] is either the creation under an older name of Mangaraja's Guru or is a later recession of Jagadalla Somnath's work (referred to in no. 9) which purports to be Kannada rendering of the original Kalyanakaraka of the older Pujyapada.

According to a South Indian tradition, Sidha Nagarjuna a famous alchemist of South India was the sister's son and desciple of the great master Pujyapada yogi.[47] Some people confuse this alchemist Nagarjuna with the famous Budhist savant of that name who belonged to the early centuries of christian era and hence have also concluded that the Pujyapada to whom he is said to have been related must have been the original Pujyapada alias Devanandi of 5th century A.D. Dr. Saletore is, however, doubtful and asks himself,

---

44. Kalyanakaraka (Sholapur), Intro pp. 32-33.

(i) Basava Rajiya:—at the end of 'अशीति वातानां कालाग्निरुद्ररसोऽग्नि तुरंडीवा' योग is written 'पूज्यपाद विनिर्मितः' (Ch. E p. 103), at the end of 'श्रमणादिवातानां (गन्धक रसायनम्)' is written 'मनुष्याणां हितार्थं हि पूज्यपादेन निर्मितः' and 'वासादि रोगाणा भिकुष्ठादि-नस्यम् (पूज्य पादीये)'—(Ch. 6 p. 110), and at the end of p. 111—'पूज्यपाद कृतो योगो नराणां हित व्याम्यया', in another place—'सिंदूर दर्पण तद्वत्पूज्य-पादीय मेव च' etc.

(ii) Nityavathiya:—at the end of 'ज्वराणां चण्डभानुरसः' is written 'नाम्नायं चण्डभानुःसकलगदहरो भावितःपूज्यपादैः' and at the end of शोथमुद्गररसः' is said 'शोथमुद्गर नाम्नायं पूज्यपादेन निर्मितः'

(iii) Madhava Nidana (Ch. 1, p. 30)—'पूज्यपादोपदिष्टोऽयं सर्वज्वर गजांकुशः'

(iv) Rasa-ratna-samuccaya in one place mentions 'कक्षेरी पूज्यपादश्च' etc.

(v) Many other Yogas found scattered in medical literature of S. India are ascribed to Pujyapada..

45. V. P. Sastri in his Introd. (p 34) to Kalyanakaraka, however, holds that all these references refer solely to the first Pujyapada of 6th century A.D. But he evidently appears to have been mistaken.

46. PS. p 149.

47. Kavicharite, I. pp. 11-12. It says that 'another Jaina writer who also wrote on medicine was Nagarjuna who was Pujyapada's sister's son and was a famous alchemist and Tantric scholar'

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

'was he the same as Nagarjuna of Budhist tradition or a different person ?'[48] In fact, there is absolutely no ground for any of the two above mentioned identifications. The Jaina Nagarjuna who was a famous alchemist and tantric scholar is quite a different person and must have been related to the later Pujyapada yogi of C. 1300 A.D. No doubt, the famous Sidha School of medicine of South India, which is quite characteristic of and quite in keeping with the non-violent creed of the Jainas, which totally denounced the use of flesh, wine etc. owed its development particularly to Jainas. The first Pujyapada might have been responsible for its origin, but it was the later Pujyapada of C. 1300 A D. alongwith his celebrated desciple and nephew Sidha Nagarjuna who set the school on a sound footing and succeded in popularising it as a definite system. According to Munindra Vardhaman's account the famous statue of Parswa Jina in the the Parswa-basadi on Mount Kankachala was installed by Nagarjuna.[49] It appears that the Parswa-basadi mentioned by Devarasa is the same and the hill containing it, which was situated near the town of Pugataka in Karnataka, and on which the famous Pujyapada is said to have conducted his experiments in alchemy (Sidha-rasa) and yoga[50] was this very Kanakachala (the Golden mountain).

As to the Pujyapada yogi (no. 13) who rendered into Kannada the Prakrit Satapadi of Vasavachandra as mentioned by Payanvarni who himself wrote the same work in Sangalya metre in 1659 A.D., he obviously preceded Payanavarni and came after Vasavachandra. This Paynamuni had completed his Sanatkumar charta in 1606 A.D.[51] The Kattule Basadi record[52] of Sravana-Bela-Gola informs us that the colleagues of Vasavachandra were Devendramuni, Prabhacandra the grammarian and logician who was paid homage to by king Bhoja of Dhara, Dawanandi, Maghanandi, Maladharideva,

---

48. Med. Jainism, p. 267.
49. PS. p. 123 Fri.
50. Kavicharite p. 11-12; also Pujyapada Charita.
51. Kavicharite p. 352.
52. E. C., II 69, p. 35.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Yasakirti who was honoured by the king of Ceylon, and Trimusbh-muni the desciple of Gopanandi. Gandavimukta-maladhari Hemacandra was another desciple of this Gopanandi and thus seems to be identical with the Maladharideva mentioned above. And Gopanandi lived in the reign of Vikramaditya VI Tribhuvanamalla,[53] while the Hole-Belagola stone inscription assigns him to A.D. 1094.[54] The date of his another contemporary Prabhacandra who was patronised by King Bhoja and also perhaps by his successors King Jayasimha of Dhara, and who in the capital city wrote his famous works Prameya-Kamala-martanda, Nyaya-Kumuda-candra, Sabdam-bhoja-bhaskara, Kathakosa, Ratnakaranda-Tika etc. is fixed as circa 1010-1080 A.D.[55] This shows that Vasavacandra must also belong to the 11th century. Hence the Pujyapada yogi referred to in no. 13 might have lived any time between 1100 and 1600 A.D. He could be identical with any one of the three Pujyapadas so far discussed, but the epithet yogi attatched to his name indicates that he was probably the same person as Mangaraja's Guru the alchemist or, he might have been quite a different person.

One Pujyapada (no. 12) is mentioned by Ayyaparya in his Jinendra-Kalyanabhyudaya (completed in 1320 A.D.), as the author of a Pratishthapatha.[56] These works dealing with the rules, regulations and rituals of the consecrational ceremoniale commenced to be written very late and were much popularised by the Bhattarakas of the Medieval period. Practically no scholar prior to the 8th or 9th century is known to have written any Pratishthapatha. At least the authorship of no Pratishthapatha is anywhere attributed to the Pujyapadas referred to in nos. 1 to 11. Of the other eight writers of this type of works mentioned by Ayyaparya, most of them are later Bhattarakas or laymen. Of these, Asadhara, Ekasendhi and Hastimalla belong to the 13th, Vasunandi to the 12th and Indra-nandi to the 11th century A.D. Of the remaining three writers,

53. MJ. p. 55.

54. E. C. V cn. 148, pp. 189-190.

55. D. L. Kothia—Anekant VIII, 12, pp. 466-469. Pt. Mahendra Kumar, however, assigns him to 980-1065 A. D. (See Anekant IV, 2, pp. 124-132).

56. PS., p. 104.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Jinasena, Gunabhadra and Viracarya, the two famous Jinasenas-the author of Harvamsa (783 A.D.) and the author of Adipurana, Parswabhyudaya and Jayadhavala (837 A.D.), as also the latter Jinasena's desciple Gunabhadra who was the author of Atmanusasana and Uttarapurana (898 A.D.) are not known to have written any Pratishthapathas. Similar is the case with regard to Viracarya or Mahaviracarya the famous mathematician of the 9th century A.D.[57] Hence the Pujyapada mentioned herein was either the Pujyapada Yogi of C. 1300 A.D. who besides being a Yogi, an alchemist, a physician and a medical writer was also probably the author of the Kannada Satapadi or Jñana-candra Charita, a poetical narrative, or he must have been some other Pujyapada who lived any time between C. 900 and 1300 A.D.

Now by far the most celebrated, wellknown and popular guru of this name was Pujyapada Devanandi alias Jinendra budhi referred to in no. 1. His original name was Devanandi. Jinendrabudhi and Pujyapada were his titles, although he has been generally known and referred to simply by the latter name. He belonged to Karnataka, probably the southern part of it which then comprised the Ganga teritory, and was an Acarya of the Nandi Samgha, a branch of the Mulasangha of Kundakundaya's anvaya. He was undoubtedly the author of Jainendra Vyakarana, the Sarvarthasidhi Tika of Tattwartha Sutra, Samadhi-tantra or Samadhi-sataka, and probably also of Iṣṭopadesa and of Sidha-bhaktyadi-sangraha. We begin to find numerous references to him and to his works in literature as well as epigraphical records from as early as the 7th century A.D. And all these references make him a very prominent and ancient Acarya who has always been remembered alongwith other ancient celebrities like Bhadrabahu, Kandakunda, Umaswami, Samantabhadra, Aklanka etc. But he is invariably placed soon after the first four, in the same order, and before Aklanka, Virsena, Jinasena, Vidyananda etc. So there remains no doubt that the Pujyapada thus referred to in the various Guruvavalis and epigraphical records (mentioned in no. II) which we shall presently discuss, is this Pujyapada Devanandi and none else. And it is he who is mentioned in the Pattavali

57. C. M. Duff—'Chronology of India' gives Viracarya's date as A. D. 810.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

of the Nandi Sangha (referred to in no. 2) according to which he was the tenth Guru of that line. A second Pattavali of that Sangha which is in Prakrit and is most probably older than the first one, also confirms this fact except with regard to dates, as we shall see later on.

According to the evidence of the Darsanasara (no. 3), he was the Guru of Vajranandi who was the founder of the Dravidasangha. But from the above-mentioned Pattavalis it appears that Pujyapada was not the immediate preceptor of Vajranandi and that two other Gurus, Jayanandi and Gunanandi had intervened in between them, and also that Vajranandi came 58 years after Pujyapada's death. The Darsanasara which was written by Devasena who belonged to Ujjain in Vik. S. 990 (A.D. 933), gives the traditional date of the foundation of the Dramila (or Dravida) Sāngha by Vajranandi as V. S 526 (A.D. 469).[58] He does not associate himself with any Sanghas but in his work he gives the origins of several later sanghas, particularly of those which he thought were not quite orthodex and were merely Jainabhasa or pseudo-Jaina. He is often vague and I think should not be much relied upon unless supported by some other more reliable evidence. Moreover, because he belonged to northern India and particularly to the Ujjain region, and so was used to the Vikrama era alone, he gives all the dates in that era. It is very likely that with regard to South Indian traditions he wrote merely from heresay and although accepted the figures of the dates he did not pay any attention to their era which probably was Saka, since in the South Saka era was much more popular and current than the Vikrama era. Hence it appears that this particular date might have been Saka 526 (or A D. 604). Anyway, this piece of evidence at least establishes the fact that Vajranandi came sometime after Devanandi Pujyapada and that the former could not have lived much beyond circa 604 A D. This means Pujyapada Devanandi cannot be placed later than the middle of the 6th century A.D. The sequence of these two Gurus is established not only by the

58. JBRAS.—XVII p. 74; SIJ. p. 21-22; Hist. of Tamils p. 247; Studies in Tamil Lit. p. 21-22; Upadhye—Introd. to Pravacanasara p. XXI; Hiralal —cat. Mss. p. 652—on its p. XXX the author attributes the foundation of the Dravida sangha to Pujyapada whom he calls its first acarya.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Darsansara and the Pattavalis but by other evidences as well while Vajranandi's connection with the Dravida or Dramila sangha is also corroborated by certain epigraphical records, particularly by the inscription of Saka 1059 (A.D. 1137) discovered on the ceiling of the Somanayiki temple situated in the compound of the Ramanuja-carya temple in the Balur Taluka.[59] This inscription mentions him alongwith Samantabhadra, Patrakesari, Vakragriva, Sumati Bhatta-raka and Samayadipaka Aklanka. Herein Vajranandi is placed after Patrakesari swami and is described as the head of the Dramila-sangha (श्रीमद्द्रामिलसंघाग्रेसरर...). The inscription of 1129 A. D.,[60] however, places Vajranandi immediately after Vakragriva and before Patrakesari who by the grace of Padmavati is said to have refuted the trilanana theory. This record also tells us that Vajranandi was the author of Navastotra 'an elegant work embodying the variety of the teachings of all the Arhatas.' The record of A.D. 1160[61] says that the Arungula-anvaya of Dramila sangha came down increasing from Bhutabali and Puspadanta, from Samantabhadra and Aklanka-deva, from Vakragriva, from Vajranandi and others down to Vasupujya Swami. The same with slight variations is repeated in the record of 1169 A D.[62] Hence there is no doubt that the Pujya-pada referred to in Darsanasara as the Guru of Vajranandi was no other than Pujyapada I Devanandi.[63] The epigraphical records (referred to in no. II) provide sufficent corroborative material to fix his identity and to enable us to distinguish him from the other and later Pujyapadas. (To be continued.)

59. E. C. V BE. 17, p. 51.

60. E. C II 67, pp. 25-26.

61. E. C. VI Kd. 69 p. 13.

62. E. C. V Ak. 1, p. 112.

63. The evidence of Darsanasara has been accepted by Ramaswami (Studies, p. 52), Srinivasa Ayenger (Hist. of the Tamils, p. 247), Ramachandra Divitar (Studies in Tamil Lit. p 21-22) etc. But Dr. Saletore (in MJ., p. 238) thinks that the epigraphical records invalidate the assertion of Darsanasara. Hence he disregards the date given by it and places it in the last quarter of the 9th or first quarter of the 10th century. He has, in fact himself confused the evidences of those records and of the traditions, and is thus quite mistaken in his conclusions about the division of the Digambara Mula Sangha and about the dates of Arhadbali, Bhutabali; Puspadanta etc.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

HISTORY OF MATHEMATICS IN INDIA FROM JAINA SOURCES

By

Dr. Sri A. N. Singh, M. Sc, D. Sc., Etc Lucknow University.

(*Contd. From Page 46 Vol XV No. II*).

GEOMETRY AND MENSURATION

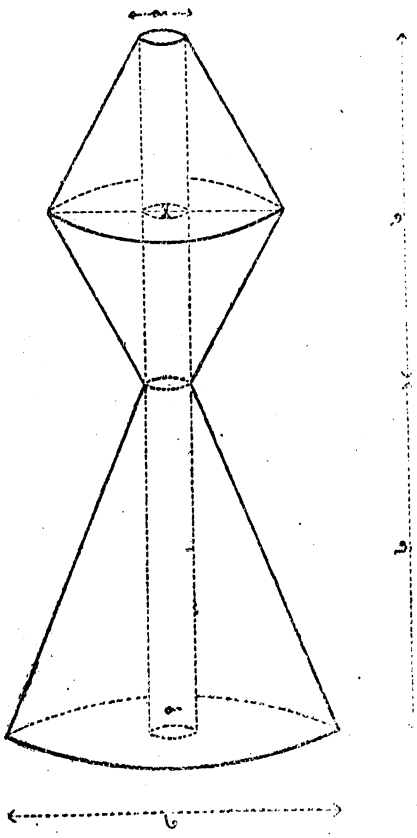

Fig. 1.

The Hinduswere acquainted with the formulae for finding out the areas of the parallelogram, the trapezium, the cyclic quadrilateral, the triangle, the circle and its sector. Formulae for the volumes of the parallelopiped, the pyramid on a plane base, the cylinder and the cone were also known. The Hindu works, however, do not give us any inkling as to how these results were obtained. In the Dhavala we find a full description of a method for finding out the volume of a frustum of a cone. This description shows that the method used in India for the study of geometry was quite unlike that of the Greeks. The principle of deformation of a given area or volume into a simpler area or volume without change of area or volume has been employed in the demonstration referred to above. It is possible now to reconstruct the proofs for the mensuration formulae found in the works of Hindu and Jaina mathematicians. We shall attempt such a reconstruction. But before doing that, we give below the original text of the Dhavala along with its translation.

The problem is to find the volume of the Universe which is supposed to be of the form of three conical frustums placed one on top of the other as shown in fig. 1. The dimensions are shown in the figure. The volume of the Universe is calculated in the Dhavala.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

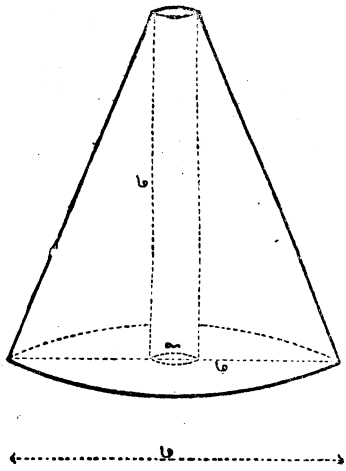

Fig. 2

The following extract refers to finding the volume of the lowest frustum, whose dimensions are (see fig. 2)

Diameter of base	= 7 units
Diameter of face	= 1 unit
Height	= 7 units.

The commentary proceeds as follows :

Edassa muhatiriyavaṭṭassa egâgâsapadesabâhallassa pariṭhao ettio hodi $\frac{3}{1}\frac{5}{1}\frac{5}{3}$. Imamaddheṇa vikkhambhaddheṇa guṇide ettiyaṁ hosi $\frac{3}{4}\frac{5}{5}\frac{5}{2}$. Adhologabhâgamicchâmo tti sattahi rajjûhi guṇide khâyaphalamettiyaṁ hodi $5\frac{2}{4}\frac{2}{5}\frac{5}{2}$.

Of this; the horizontal circular boundary at the face having the uni-dimensional thickness has (its) circumference (of length) this: $\frac{3}{1}\frac{5}{1}\frac{5}{3}$. Half of this multiplied by half of the diameter becomes this : $\frac{3}{4}\frac{5}{5}\frac{5}{2}$. Now we want to find out (the volume of) the lower portion. (The above obtained area) being multiplied by seven will yield $5\frac{2}{4}\frac{2}{5}\frac{5}{2}$ for the volume of the hollowed space. (i.e. the volume of the cylinder which we take out.) (See fig. 2)

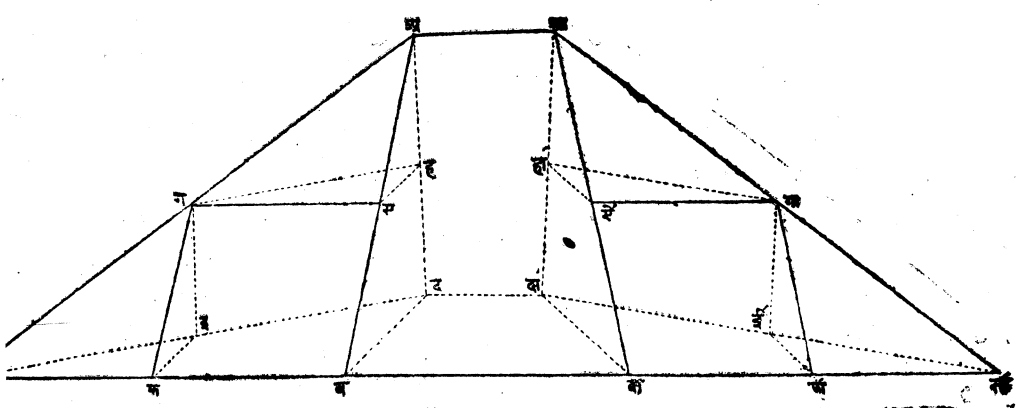

Fig. 3

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Puṇo ṇissûîkhettaṁ coddasarajjuâyadaṁ do khaṇḍâṇi kariya tattha heṭṭhimakhaṇḍaṁ ghettûṇa uḍḍhaṁ pâṭiya pasaride suppakhettaṁ hoûṇa cheṭṭhadi. Tassa muhavittharo ettiyo hodi $\frac{3}{11}\frac{5}{3}\frac{5}{}$. Talavittharo ettiyo hodi $21\frac{1}{11}\frac{1}{3}\frac{2}{}$. Ettha muhavitthareṇa chindide do tikoṇakhettaṇi eyamayadacaurassakhettaṁ ca hoi.

Tattha tava majjhimakhettaphalamaṇiñjada: Edassa usseho satta rajjûo. Vikkhambho puṇa ettis hodi $\frac{3}{11}\frac{5}{3}\frac{5}{}$. Muhammi egagasapadesabahallaṁ, talammi tiṇṇi rajjubahallo tti sattahi rajjûhi muhavittharaṃ guṇiya talabahalladdheṇa guṇide majjhimakhettaphalamettiyaṁ hoi $32\frac{2}{2}\frac{2}{2}\frac{3}{6}$.

Saṁpahi sesadokhettaṇi sattarajjuavalambayaṇi terasuttarasadeṇa egarajjuṁ khaṇḍiya tattha aṭṭhetalîsakhaṇḍabbhahiya navarajjubhujaṇi bhujakoḍipaaoggakaṇṇaṇi, kaṇṇabhûmîye alihiya dosu vidisasu majjhammi phalide tiṇṇi tiṇṇi khettaṇi honti.

Now dividing the needle-less (the cylinder-less) volume which is fourteen units deep into two parts, then taking the lower part, (see figure 1) cutting it from the top (downwards) and spreading it yields a volume like a winnowing pan: Of this the face length is this: $\frac{3}{11}\frac{5}{3}\frac{5}{}$. Its base length is this: $21\frac{1}{11}\frac{1}{3}\frac{2}{}$. Here cutting it from the face-ends downwards are obtained two triangular volumes and one volume on a rectangular base. (See fig 3)

Now we find out the volume of the middle part. Its height is seven units, and its length is this $\frac{3}{11}\frac{5}{3}\frac{5}{}$. In the face the breadth is uni-dimensional (i. e. zero), and at the base the thickness is three units. So the face length multiplied by seven and (also) by half the thickness of the base, the volume of the middle part will be this: $32\frac{2}{2}\frac{2}{2}\frac{3}{6}$.

Now of the remaining two volumes (tetrahedrons) of height seven units; the length of the arms is forty-eight parts of one hundred thirteen parts of a unit and nine units (i.e. $9\frac{48}{113}$ units). Bases and arms correspond to hypoteneuses. Taking the hypoteneuses, both of them, and cutting from the middle in both (horizontal and vertical) directions gives rise to three volumes (in each tetrahedron). (See fig 3)

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

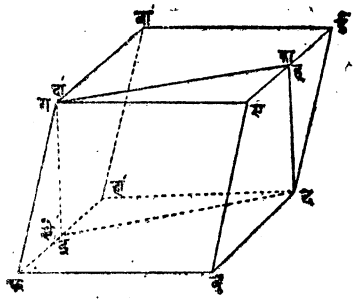

Fig. 4

Tattha do khettaṇi addhuṭṭha-rajjussehaṇi chavvîsuttara-visadehi egarajjuṁ khaṇḍiya tattha egaṭṭhikhaṇḍabbhahiyakhaṇḍa-sadeṇa sadiṇeyacattarirajjuvik-khambhaṇi, dakkhiṇa-vamaheṭ-ṭhimakone tiṇṇi rajjubahallaṇi, dakkhiṇa-vam ikoṇesu jahaka-meṇa uvarima-heṭṭhimesu diva-ḍḍharajjubahallaṇi, avasesadoko-ṇesu egagasabahallaṇi. Aṇṇattha kamavaḍḍhigadabahallaṇi ghet-tûṇa, tattha egakhettassuvari vidiyakhette vivajjasaṁ kauṇa ṭṭhavide, savvatha tiṇṇi rajju-bahallakhettaṁ hoi. Edassa vittharamussehena guṇiya veheṇa guṇide khayaphalamettiyaṁ hoi $49\frac{2}{4}\frac{1}{5}\frac{7}{2}$.

Then in respect of two of the volumes, the height (ह द and हा ऐ each) is three and a half units; the length (फ ब and फा बा each) being 161 parts out of 226 parts of a unit increased by 4 units (i.e. 4 $\frac{161}{226}$ units); the thick-ness on the right (बा दा) and left (ब द) bottom sides (each) being 3 units; on the right and left sides in the top and the bottom the respective thickness being one and a half units, and in the remaining two corners the thick-ness is uni-dimensional (i e. zero). Elsewhere gradually increasing thickness having been obtained, (so) when the second body after reversing it is placed on the first body there will be produced a body of uniform thickness of 3 units. (See fig. 4) The length of this multiplied by the height and then multiplied by the thickness will be this: $49\frac{2}{4}\frac{1}{5}\frac{7}{2}$.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Avasesacattari khettaṇi addhuṭṭharajjussehaṇi chavvîsuttaravisadehi egarajjuṁ khaṇḍiya tattha egaṭṭhisadakhaṇḍehi sadireyacattarirajjubhujaṇi. Kaṇṇakkhette alihiya dosu vi pasesu majjhammi chiṇṇesu cattari ayadacauraṁsakhettani aṭṭha tikonakhettaṇi ca honti.

(Now) the remaining four bodies have three and half units height, and have arms of length 161 parts out of 226 parts of unity increased by four units (i.e. $(4\frac{161}{226}$ units). Their hypotenueses being taken and they being cut in both (horizontal and vertical) directions from the middle yield four volumes on quadrilateral bases and eight volumes on triangular bases.

Ettha caduṇhamayadacaüraṁsakhettaṇaṁ phalaṁ puvvilladokhettaphalassa caübbhagamettaṁ hodi. Cadusu vi khettesu bahallaviroheṇa egaṭṭhaṁ kadesu tiṇṇirajjubahallaṁ; puvvillakhettavikkhambhayamehiṁto addhamettavikkhambhayamapamaṇakhettuvalambhado. Kiṁaṭṭhaṁ caduṇhaṁ pi milidaṇaṁ tiṇṇi rajjubahallattaṁ? Puvvillakhettabahallado saṁpahiyakhettaṇamaddhamettabahallaṁ hodūṇa taḍussehaṁ pekkhidûṇa addhamettussehadaṁsaṇado.

Here the (total) volume of the the four bodies on quadrilateral bases will be one fourth of the (total) volume of the two (similar) aforesaid bodies. The four bodies taken together, two at a time (as before) and they being placed together in respect of thickness, produce a thickness of 3 units, (and) the length and height are found to be half of the length and height of the volume mentioned before. How is the thickness of the solid obtained by joining the four together is 3 units? (Because) the length of the present solid is half of the length etc. of the solid mentioned before, and the height (also) is seen to be half as compared to the height of the previous solid.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Saṁpahi sesaaṭṭhakhettaṇi puvvaṁ va khaṇḍiya tattha soḷasa tikoṇakhettîṇi aṇantaradîdakhettaṇamussehado vikkhambhado bahallado ca addhamettaṇi avaṇiya aṭṭhaṇhamayadacaüraṁsakhettaṇaṁ phalamaṇantaraikkaṁtacadukhettaphalassa caübhagamettaṁ hodi.

Now cutting the remaining eight volumes (tretranedrons) as before, there (are obtained) sixteen tretrahedrons with heights, lengths, thicknesses etc. half of those of the previous ones; removing these (sixteen tretrahedrons) the combined volume of the (remaining) eight volumes on quadrilateral bases is one-fourth of that of the four (such) volumes before.

Evaṁ soḷasa-battîsa-caüsaṭṭhiadikameṇa ayadacaüraṁsakhettaṇi puvvillakhettaphalado caübbhagamettaphalani hodûṇa gacchanti java avibhagapalicchedaṁ pattaṁ ti.

In this way, being sixteen, thirty two, sixty four and so on, step by step, are obtained volumes on quadrilateral bases with (combined) volumes being one-fourth of the preceding; this goes on till the stage of further indivisibility is reached.

Evamupaṇṇasesakhettaphalam elavaṇavihaṇaṁ uccade. Taṁ jaha-savvakhettaphalaṇi caügunakameṇa avaṭṭhidaṇi tti kudûṇa tattha antimakhettaphalaṁ caühi guṇiya rûvûṇaṁ kaûṇa tiguṇidachedeṇa avaṭṭide ettiyaṁ hoi $65\frac{110}{113}$. Adhologassa savvakhettaphalasamaso $104\frac{207}{452}$.

(Now) we describe the method of finding the total of the unlimited volumes (bodies) so produced. It is thus: the volumes obtained are in succession fourfold, therefore; there, the last volume multiplied by four and divided by that minus one, (i.e., by 3) will give this: $65\frac{110}{113}$. (Therefore) the total volume of the lower universe is this: $104\frac{207}{452}$.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

The main items of interest in the above, from the point of view of History of Mathematics, are as follows :—

(i) It has been assumed that a body with curved boundaries can be deformed into another with plane boundaries in such a way that its volume remains unchanged. In particular, if the hollowed out cone of figure (2) is deformed into the figure (3) which has plane boundaries, then the volume remains unchanged.

(ii) The principle of construction for the purpose of demonstration or proof has been assumed to hold true. In particular, this principle has been used to find the volume of the tetrahedrons अ ब स द and आ बा सा दा.

(iii) The formula $S=\frac{a}{1-r}$, $r < 1$, for the sum of the geometric series $S = a+ar+ar^2+\ldots\ldots+ar^n+\ldots\ldots$ has been assumed.

(iv) The value of π has been taken to be $\pi=\frac{355}{113}$.

RECONSTRUCTION OF PROOFS OF MENSURATION FORMULAE

The principles of deformation and construction employed in the above demonstartion can be used to obtain the mensuration formulae known and used in India as follows :—

AREA

1. **Rectangle:** The area of a rectangle is equal to its length multiplied by its breadth.

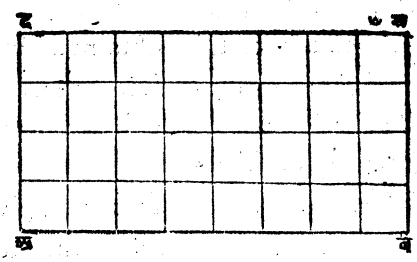

Fig. 5.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

2. PARALLELOGRAM : The area of a parallelogram is equal to the length of its base multiplied by its height.

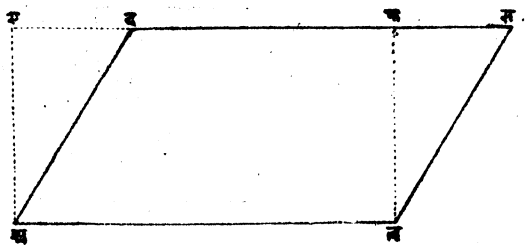

Fig. 6

Construction. Cut the portion ब स फ (ब फ perpendicular to स द) and take it to the other side (अ ए द). The resulting figure is a rectangle, hence the theorem.

First Principle of Deformation: If one of the sides of a parallelogram is moved along itself, the area of the parallelogram remains unchanged.

In the figure अ ब स द; स द sliding in its own line is moved to the position फ ए giving the rectangle of equal area.

3. TRIANGLE : The area of a triangle is equal to half the length of its base multiplied by its height.

This result is true because a triangle is half of a parallelogram on the same base and of the same height.

Second principle of deformation. If the vertex of a triangle is moved parallel to the base, the area of the triangle remains unchanged.

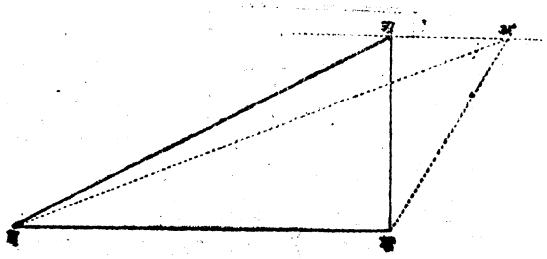

Fig. 7.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

4. TRAPEZIUM : The area of a trapezium is equal to half the sum of the lengths of its base and face multiplied by its height.

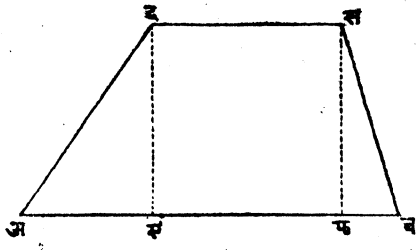

Fig. 8.

The result follows from the construction shown in the figure.

The principle of deformation holds true in the case of a trapezium also, i.e. the area of the trapezium is unffected by a deformation brought about by moving one of the parallel sides in its own line.

5. SECTOR OF A CIRCLE : The area of a sector of a circle is equal to half the length of its arc multiplied by its radius.

Fig. 9.

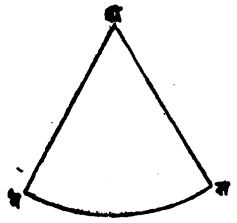

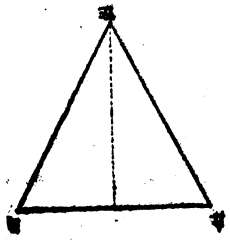

Fig. 10.

Construction: Divide the sector अ ब स (Fig. 9) into a large number of smaller sectors (which may be equal), so that the arcs of these sub-sectors are so small that they differ little from straight lines. The sector is thus divided into a large number of triangles.

Now place these triangles with their bases abutting on one another on the line ब स (see fig. 10) and move the vertices so that they all come to अ. The area of the sector is thus seen to be the same as the area of the triangle अ ब स whose base ब स is equal to the length of the arc ब स and whose height is equal to the radius of the sector .

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Third principle of deformation: If a sector of a circle is deformed into a triangle whose base is equal in length to the arc of the sector and whose height is equal to the radius, the area remains unaltered.

The deformation is brought about by keeping the bisector of the angle at the centre fixed and then making the circular arc straight.

6. CIRCLE The area of a circle is equal to half the length of its circumference multiplied by its radius.

Construction: Cut the circle along a radius and spread it out into a triangle. The area of the circle is equal to the area of this triangle whose base is equal to the circumference and whose height is equal to the radius of the circle. Hence the result.

Corollary: The area of the figure bounded by two concentric circles of radii a and b, and two radii is equal to the area of the trapezium 'whose parallel sides are equal to the length of the two arcs and whose height is equal to the difference between the radii of the circles.

Fig. 11.

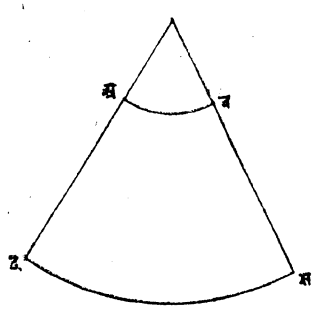

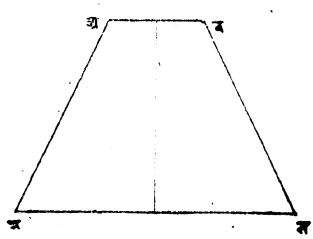

Fig. 12.

7. The volume of a cylinder (of uniform cross-sections) is equual to the area of its base multiplied by its height.

8. The volume of a tetrahedron is equal to one-third the area of its base multiplied by its height.

A prism on a triangular base can be divided into three equal tetrahedrons, hence this result.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

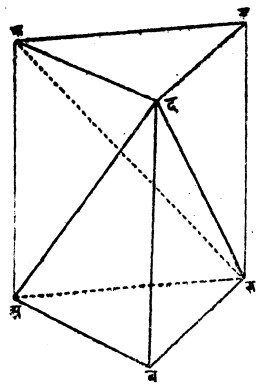

Fig. 13.

An alternative method of finding the volume of a tetrahedron has been given in the demonstration quoted above.

9. The volume of a pyramid is equal to one-third the area of its base multiplied by its height.

Construction: The pyramid can be cut into a number of tetrahedrons. The result follows.

10. The volume of a right cone is equal to one-third the area of its base multiplied by its height.

Construction: Cut the cone along a radius of the base vertically up to the vertex. Then spread it out so that the base is deformed into a triangle as in 6. The cone is deformed into a tetrahedron of equal volume by virtue of the third principle of deformation. The volume of this tetrahedron is equal to one third the area of the base multiplied by its height, hence the result.

By the fourth principle of deformation the result is true for any cone, right circular or not.

11. The volume of the frustum of a cone could be found out by subtraction, for the frustum is obtained by cutting the cone by a plane parallel to the base. The frustum being given, the original cone by cutting which the frustum has been obtained must be found out. Instead of doing that, the author of the Dhaval finds the volume of the frustum directly taking recourse to construction and the principles of deformation, which we have attempted to reconstruct.

Let a and b be the radii of the base and face of the frustum of a cone whose height is h. Then extracting out a cylinder of radius

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

b and height h, and performing construction and deformation one obtains the body in fig. 3.

In the figure,

$$A A' = B B' = 2\pi b$$
$$BD = B'D' = a - b$$
$$BC = B'C' = \pi (a - b)$$
$$AD = A'D' = h$$

This body is then cut into three parts by vertical planes passing through A and A'. We get the prism ABDD' B' A', and two equal tetrohedrons ABDC and A'B'D'C'. The volume of ABDD'B'A', which is a prism of height $2\pi b$ on a triangular base ABD, is

$$\frac{1}{2} BD \times AD \times 2\pi b$$
$$= \frac{1}{2} (a-b) \times h \times 2\pi b$$
$$= \pi bh (a-b) \ldots\ldots\ldots\ldots (i)$$

The volume of the two tetrahedrons together is

$$2 \cdot \frac{1}{3} \cdot \frac{1}{2} BD \times BC \times AD$$
$$= \frac{1}{3} (a-b) \times (a-b) \pi \times h$$
$$= \frac{1}{3} \pi (a-b)^2 \times h \ldots\ldots\ldots\ldots (ii)$$

The volume of the frustum is, therefore,

$$\pi b^2 h + \pi bh (a-b) + \frac{1}{3} \pi (a-b)^2 h$$
$$= \frac{1}{3} \pi h \{3b^2 + 3ab - 3b^2 + a^2 + b^2 - 2ab\}$$
$$= \frac{1}{3} \pi h \{a^2 + b^2 + 2ab\},$$

which is the well known formula.

AN INFINITE PROCESS.

The volume of the two tetrahedrons has been directly found out. Each tetrahedron is cut into three parts by drawing horizental and vertical planes through the middle point G(G') of AB (A'B') (see fig. 4). The bodies BDHEGIF and B'D'H'G'I'F' being placed one on the other produce a parallelopiped of height $\frac{h}{2}$ on a rectangular base with sides

$$BD = (a-b)$$
$$\text{and } BF = \frac{1}{2} \pi (a-b)$$

Let K denote the volume of this parallelopiped, i. e.,

$$K = \frac{1}{2} \pi (a-b)^2 \cdot \frac{1}{2} h$$
$$= \frac{1}{4} \pi (a-b)^2 \cdot h$$

Now cut the four tetrahedons produced in the above construction, each into three parts, by horizontal and vertical planes drawn as

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

before through the middle points of the sides. This produces eight tetrahedrons and four bodies like B D H E G I F. These four being placed together produce a rectangular parallelopiped whose volume is one-fourth the volume of the previous one, i. e. the volume of this is $\frac{1}{4}$ k. Continuing the process we get successively volumes as below :

$$K, \frac{1}{4}K, \frac{1}{4^2}K, \frac{1}{4^3}K, \ldots\ldots\ldots\ldots$$

whose sum is

$$K\left(1+\frac{1}{4}+\frac{1}{4^2}+\frac{1}{4^3}+\ldots\ldots\right)$$
$$=\frac{4K}{3}$$

As K is known to be equal to $\frac{1}{4}\pi(a-b)^2$,
therefore,

$$\frac{4K}{3}=\frac{1}{3}\pi(a-b)^2\,h=\text{the volume of the two tetrahedrons.}$$

Continued construction as above reduces the volume of the tetrahedrons, so that they are reduced to points when the construction is continued indefinitely. The tetrahedrons, as has been rightly remarked by the author of the Dhavala are reduced to points and so oontribute nothtng to the volume. The volume of each of the tetrahedrons ABCD and A′B′C′D′ is therefore

$$\frac{1}{6}\pi(a-b)^2.\,h$$
$$=\frac{1}{3}.\frac{1}{2}\pi(a-b).(a-b).\,h$$
$$=\frac{1}{3}.\text{ area of base. height.}$$

The main points to be noted in the above are :

(i) the actual use of an infinite sequence of constructions and (ii) the actual use of the formula for the sum of an infinite series.

We shall perhaps never know how the ancient mathematicians of India justified the use of infinite processes. We content ourselves by stating that the Hindu mathematicians did use infinite processes as early as the 8th or 9th century A. D.

THE VALUE OF π

The problem of 'squaring the circle' or what was more fundamental in India from the point of view of religious requirements, the problem of 'circling the square' originated and acquired special

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

importance in connection with the Vedic sacrifices, when the earliest hymns of the *Rg. Veda* were composed (before 3,000 B. C.). The three primary altars viz., the Gârhapatya, Ahavanîya and Dakṣina were to be of the same area but of different shapes—square, circle and semi-circle. The five altars called *Rathacakra-citi*, *Samuhya-citi* and Paricāyya-citi, mentioned in the *Taittirîva Samhita* required the construction of a circle equal in area to a given square of $7\frac{1}{2}$ units area. The value of π used in those early days varied between 3 and 3·1. For further datails the reader is referred to *The Science of the Sulba* by B. B. Datta (Calcutta University Press, 1932).

The value $\pi = \sqrt{10}$ seems to have been used by Jaina scholars first. It was used by *Umasvati* who wrote about the beginning of the Christian Era. He says:

"The square-root of ten times the square of the diameter of a circle is its circumference. That multiplied by a quarter of the diameter (gives) the area.[1]

This value ($\pi = \sqrt{10}$) became very popular and was used by most of the Hindu astronomers and mathematicians—Brahmagupta, (628) Śridhara (c. 750), Mahavîra (c. 850), Aryabhaṭa II (c. 950) etc. Aryabhaṭa I (499) used the value

$$\pi = \frac{62832}{20000}$$

He says:

"100 plus, 4, multiplied by 8 and added to 62000. This will be the approximate value of the circumference of a circle of diameter 20000.[2]

Now

$$\frac{62832}{20000} = 3 + \cfrac{1}{7 + \cfrac{1}{16 + \frac{1}{11}}}$$

The successive convergent are

$$3, \frac{22}{7} \text{ and } \frac{355}{113}.$$

The value $\frac{22}{7}$ was employed by the Greeks and is known as the Greek value of π. It is the second convergent obtained from Aryabhaṭa's value and has been used in India by Aryabhaṭa II and by Bhaskara II as a "gross" value of π.

1. Tattvarthadhigama sutra with the *bhâṣya* of Umasvati, ed. by K. P. Mody, Calcutta, 1904, iii II (gloss).
2. Aryabhaṭîya, II, 10.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

The value $\pi = \frac{355}{113}$ which is the third convergent has been very rarely used by Hindu mathematicians and astronomers. This value has been called the Chinese value of π as it occurs in the works of Chinese scholars about the seventh century A. D.

Virasena the author of the *Dhavala* completed his work on 8th October, 816 A. D. He uses the volue $\pi = \frac{355}{113}$ and in support quotes the following from a previous author:

Vyasaṁ ṣodaśagunitaṁ sodaśasahitaṁ
tri-rupa-rupairbhaktaṁ |
Vyasaṁ trigunitasahitaṁ sukṣmadapi
tadbhavetsûkṣmaṁ ||

The literal translation of the above, according to modern sanskrit usage, will run as follows:

"The diameter multiplied by sixteen added by sixteen (and) divided by three-one-one, together with three times the diameter is finer than the fine (value of the circumference)"

This gives

$$C = 3\,D + \frac{16\,D + 16}{113}$$

wher C stands for the circumference and D the diameter of a circle.

Virasena, however, interprets the above as

$$C = 3\,D + \frac{16\,D}{113} = \frac{355\,D}{113}$$

i. e. $\pi = 3\frac{16}{113} = \frac{355}{113}$

Virasena's interpretation, however, cannot be correct unless "*Ṣodaśasahitaṁ*" in the first line is interpreted to mean "added sixteen times", so that the translation of the couplet would run as follows:

"The diameter multiplied by sixteen, (that is) added sixteen times (and) divided by three-one-one together with three times the diameter is finer than the fine (value of the circumference)."

Now, the term "*Sahitaṁ*" was used in the sense of addition as well as "multiplication", i. e. "repeated addition a number of times" in the *Vedaṅga jyotiṣa* but has not been used in that double sense by Aryabhaṭa (499) and suceeding mathematicians. This leads one to conclude that the above quotation is from some work written before the fifth century A. D., when "*Sahitaṁ*" was being used in both the senses of multiplication as well as addition. It would appear,

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

therefore, that the so called chinese value of $\pi = \frac{3}{1}\frac{5}{1}\frac{5}{3}$ was also known in India and was perhaps used in India earliear than in China. It might be that the Chinese got this value from India, through Buddhist missioneries or perhaps they found out the value independently.

Another noteworthy feature in the above quotation is the remark "finer than the fine." From this it follows that a "fine" value of π was already known. This fine value of π may have been $\sqrt{10}$ or $\frac{2}{7}\frac{2}{2}$. If the latter, the connection with Aryabhata's value is obvious—the third convergent being a closer approximation than the second.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

RENASCENT INDIA AND VAISALI

By

Prof. Sita Rama Singh, M. A.

Lecturar in History. H. D. Jain College, Arrah.

It is only in the fitness of things that Renascent India should look with increasing interest and enthusiasm to Vaisali— the cradle of republicanism, and the religious centres of the Jainas and the Budhists. Republicanism is the political garb of Modern India, and Non-violence— the central theme of the teachings of both Lord Mahavira and the Buddha—is her message to the suffering world. The Jaina contribution to the building up of New India has been considerable, and in order to make it more effective the Jainas shall have to revive once more the traditions of Vaisali.

Now it has been proved beyond doubts on the ground of unimpeachable evidences that Lord Mahavira was born at Kundagrama near Vaisali, and not at Lichchuar or Kundalapura as was the popular belief among the Jainas. The birth of Lord Mahavira was an event of paramount importance in the history of the Lichchavi Republic. As Dr. Radhakumud Mookerji, as eminent historian, has pointed out, "The personality and preachings of Mahavira rapidly built up Vaisali as a centre of Jainism and of the spiritual discipline and asceticism upon which it was based. Vaisali thus achieved an early reputation in the religious world of India for its teachers devoted to the practice of uttermost penance and austerity, of which Mahavira stood out as the most prominent example." More than this Mrs. Rhys Davids has even pointed out that the Buddha was first initiated into Jainism at Vaisali and Alara and Uddaka were his first teachers. Thus the Buddha began his quest for truth from Vaisali.

A more definite proof of the Buddha beginning his religious life as a Jaina is to found in the fact that he took to severe penance, practised austerities, reduced himself to a mere skeleton, skin and bones, and ultimately reduced his food to what might he contained in his hollowed palms. When he found that his body could not stand the rigours of such severe penance, he took to his famous Middle Path.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

So during the 6th. cent B. C. Vaisali was the centre of the religious movements that were springing up in India at that time. Dr. Smith has characterised these movements as the protests of the Kshatriyas against the all-powerful Brahmins. One, however, may well be tempted to ask as to why these protests of the Kshatriyas were voiced by the republican clans rather than by the Monarchical Chiefs who were more powerful. Dr. Smith would have been nearer the truth if he had sought the origins of the religious movements in the healthy political life of the Vajjian Republican Confederacy to which the Buddha himself paid tributes. A further proof of the republican character of Jainism is to be found in the fact that Lord Mahavira emphasized the dignity of man, that He said that man could mould his own destiny and attain salvation through self-less action and that for his salvation the help of no outside agent was needed. This teaching was a bold proclamation of the republican ideal in religion.

Vaisali is also the embodiment of the dedication of the individual, however great he might be, to the well-being of the community. Lord Mahavira was the son of Sidhartha, a Lichchavi Chief, and Trishala the sister of Chetaka, the Lichchavi Raja. His princely origin not withstanding, Lord Mahavira kicked wordly luxuries and devoted himself to healing the religious sores from which the common people were suffering at that time.

To sum up : the message of Vaisali is that republicanism is the best sort of constitution under which the individual has the best opportunities to unfold his personality to the utmost extent, that such a developed individual should dedicate himself to the well-being of the community, that Lord Mahavira was the finest flower which blossomed at Vaisali, embodying its best ideals, and that the religion of a republic should be the cult of self-reliance.

These ideals of ancient Vaisali can inspire Renascent India to action. But it is a matter of regret that due attention has not been paid to the excavation work at Vaisali, that only an insignificant part of which should have been done has been done, and that many valuable informations yet lie buried beneath mounds. Every Indian is under sacred obligation to Vaisali, but most of all the Jainas owe a

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

sacred duty to the birth-place of their twenty-fourth and last Tirthankara. The Jainas, though not numerous, are a wealthy and influential community in India and they can and should do something for unearthing the hidden treasures at Vaisali. A Jain Dharmashala, a Museum and further excavations are the crying needs of Vaisali. By doing so, the Jainas will not only be paying homage to their own religion, but also doing a great service to Mother India.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

CONTRIBUTION OF THE JAINAS TO HINDI LITERATURE.

By
Sri C. S. K. Jain, M. A.

The great political storm which swayed over India just before and after the advent of the Musalmans, threw away the Indian people, all of a sudden, so far away from their old traditions, that they could not be able to get together even those valuables which were the results of thousands of years of their experiments and thoughts. The period of Indian History after the death of Harsha upto the settlement of Muslim Empires, has been rightly branded as The Dark Age, because the current literature of the general folk of the time, the burning torch of the age, has been sacrificed among the high flames of communalism and racealism.

The Jain-literature has proved itself to be the only helpful means for having a peep through the veil of ignorance spread over the age. According to Jain philosophy, the *Shastras* (sayings of respectable Jain monks) have been held in regard just on equal footing with the Devas (Jain dieties) and the Gurus (Jain sages). As a result, the Jainas tried their best to protect Jain literature also along with their sacred images. This vast literature, still safe in big Jain religious libraries all over India, has its significance not only for getting a clue to our long debated religious, historical or philological problems, but also in bridging the way to our ancient literary glory. It is a matter of regret that only a few literary magnets have cared to survey or even to pass through this highway of our literary tradition.

Right from the lifetime of Bhagwan Mahabir, language of the general folk received its due respect in Jain literature. Jain monks and poets always tried to incorporate the feeling, the thought and the voice of the general mass in its own language. Near about the 10th century A. D., Jainism was the most pupular faith in some parts of India such as the Deccan, the Rajasthan, Gujrat and other western provinces. Under suitable state-protection Jain monks remained always busy in injecting Jain religious principles among the householdersthrough their works on almost all branchs of literature like history,

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

epic, drama, mythology, grammar etc. They took care to use the same character of language which was current among all grades of people for their daily expressions. So the common literature of the time is mostly the result of the unshaken labour and brilliance of the Jain literators. It was the age when Apbhransha the traditional heir to Sanskrit was taking shape of modern provincial languages like Bengali, Gujrati, Awadhi, Rajasthni etc. in all parts of India. Jain literature of the age is mostly found in Apbhransha but its stock of words is nearer to old Hindi than the literary form of Apbhransha itself. So we should have a regard for these literators as pioneers of Hindi literature.

Apart from its liberal philological view-point, the above Jain literature constitutes the stepping stones leading to that glory of literary revival which reached its zenith during the famous Golden Age of Hindi literature, producing genii like Kabir, Jayasi, Sur, and Tulsi. The poetic arts of these venerable poets are only full bloomed beauties of the said Jain literature. Whether in treatment of subject, in composition of verses, in use of figures of speech, in selection of touching scenes or other beauties of rhetoric and prosody, the formers have always been found following the footsteps of their Jain predecessors.

Leaving aside his philosophical differences, we may say that the art of Tulsi owes much to Jain poet *Swayambhu Dev* (791 A.D.), the composer of the great epic *Paümchariū* (the Jain Ramayan) in *Chaupīas* and *Ghattās*. It contains marvellous descriptions of battles, lamentings, and pictorial views of nature, intermingled with philosophical ideas, as is found in Tulsi Ramayan also.

We enjoy the romantic and mystic flavour of Sufi poets like Jayasi as far back as 1100. A. D. in Muni *Naya Nandi*, through his composition *Sudanshan Chariū*. When we see the inclination to Shringar Rasa, description of female beauty, nature painting, a mystic idea of universal co-relation, and then the selection of verses also, in a way just corresponding to the Romantic epics, we are free to form an idea that, in absense of any such literature to be found elsewhere at so early period, Naya Nandi is the first known composer of Romantic epic (Prem Kavya) and Sufi poets were not ignorant of his art.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Though thoughts of Kabir are the direct evolution of the preachings of Sahajyani Sidhas and Nath Panthi yogis, yet some lines of Kabir resemble so much with those of Muni Ram Singh (near about 1110 A. D. that it becomes evident that they were popular in the environment which was shaping the ideas of Kabir. For example these lines of Kabir—

केसन कहा बिगारिया जो मूंडो सौ बार।
मन को क्यों नहीं मूंडिये, जामे विषै विकार॥

can be well compared with these lines from Pahuŕ Doha—

मुंडिय मुंडिय मुंडिया। सिर मुंडिउ चित्त ण मुंडिया।
चित्तहं मुंडणु जि कियउ। संसारहँ खंडणु तिं कियउ॥

Muni Ram Singh was a staunch supporter of the view that even strict adherance to outward rituals does not ensure self-emancipation, which is only possible through real self-conciousness and inner purity. He has used the same words in abhorance of such ascetics and *Pandits* as Kabir did afterwards against the so called contractors of human progress.

There is no doubt that composition of epics in Hindi literature owes its origin to the Jain Poets, the most important of which known up till now, are acquainted herewith along with their works :—

Poet's name.	Age (Settled up till now)	Works.
1. Swayambhu Dev	790 A. D.	1. Paum Chariū 2 Ritthnemi Chariū 3. Panchami Chariū 4. Swayambhu Chhand
2. Maill Dhawal	10th cen. A. D.	1. Davv Sahaō Payas 2. Harivansha Purañ
3. Mahakavi Puspadant		1. Tissith Mahapuris Guñalankār 2. Naya Kumar Chariū 3. Sasahar Chariū 4. Kosha Granth
4. Dhanpal	10th cen. A. D.	1. Bhavishyavat Katha
5. Muni Naya Nandi	1100 A. D.	1. Sudanshan Chariū
6. Acharya Hemchandra	1088 A. D.	1. Kumarpal Charitra

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

2. Sidha Haim Shabda-nushashan
3. Prakrit Vyakaran
4. Deshi Nammala
5. Chhandonushashan

Acharya Hemchandra needs special reference because he was the first to write an Apbhransha Vyakaran and a book on prosody. Deshi Nammala contains a list of such words which were popular in public and were used in literature of that period. Besides these the names of Somprabhsüri, Vinayachand Süri, Acharya Merütüng and Rajshekhar Süri are also worth remembering who decorated Hindi literature with different kinds of works on poems, dramas, short stories etc. We have not come across any Jain writer of lyric poems which has its artistic growth in Sür. But the art of lyric poetry was not foriegn to them. We find an unbroken chain of Jain poets right upto the end of the 15th century A. D.

Year 1586 is one of the most important dates, in this connection, for it celebrates the birth of a great genius Banarsidas Jain of Jaunpur, who was anxious for spreading the sphere of Hindi literature, so far limited within epics and lyrics only. He was one of the few early prose-writers of Hindi. His prose truely represents current Brajbhasha of his time. His Ardhakathanak (autobiography) is the only work of its kind in old Hindi. He was a good poet and one among the fast friends of Tulsidas. He also produced the Hindi version of Natak Samaysar of Kundkundacharya. Thus Banarasidas stands at a remarkable place in Hindi literature.

Even in the sphere of prose, we should not forget the importance of Pt. Daulatram Jain of Baswa (Madhya Pradesh) who translated Jain *Padma Purana* of Ravishenacharya into Khari Boli in 1766 A. D. As Pt. R. C. Sukla notes, his language represents that character of Khari Boli which was prevalent among the majority of literate people, not influenced a little by foriegn languages like Urdu or Persian. His work proves that writing of prose in Khari Boli had begun long before the British tried to shape its outlines in the Fort-William.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Even to day we see several Jain literators busy in promoting the grandeur of Hindi literature in almost all its branches. Shri Rishabh Charan Jain is famous for his fictions. Jainandra Kumar has its own importance for his philosophical outlook and psychological study of characters in his novels and short stories. He is also a renowned critic in modern Hindi literature. Dr. Hiralal Shastri has gained a memorable place for his research works on Jain literature. It is his effort that brought to light the vast Jain literature of old Hindi and drew the attention of Hindi world towards its importance. Besides these Shikherchand Jain, Shree Gyanchand Jain and various others are true devotees of Hindi literature who are doing there best to fill up its treasure or mark the value of its present diamonds. Jain contributions to Hindi literature, though a few in quantity, have their unique importance for they mark the mile-stones of the path of its progress.

Thus we come to the conclusion that the Jainas, though constituting a very small number of Hindi speeking population, are not less important for their share of offerings at the altar of Hindi It is for the present generation to continue the tradition and keep the torch of learning bright, the only means of human emancipation from the distructive elements of to day, resulting influence of undue evolution of brain without due collaboration with the heart, the fountain of life and fraternity.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी षाण्मासिक पत्र है, जो वर्ष में दो बार प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देश के लिये ३) और विदेश के लिये ३॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १॥) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा रहेगी।

३ इसमें केवल साहित्य-संबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकशनार्थ स्वीकृत होंगे। प्रबन्धक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं; मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में परिवर्तन की सूचना भी तुरन्त आरा को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' प्राप्त न हो, तो इसकी सूचना शीघ्र कार्यालय को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर अर्वाचीन काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना आदि सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकों को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' कार्यालय आरा के पते से ही भेजनी चाहिये।

PRINTED BY D. K. JAIN, AT SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD.
ARRAH.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust